सृजन की मनोभूमि

सृजन की मनोभूमि

डा० रणवीर रांग्रा

१९६८

वाणी प्रकाशन

७६-एफ, कमलानगर, दिल्ली-७

प्रकाशक
वाणी प्रकाशन
७६ एफ, कमलानगर, दिल्ली

एकमात्र वितरक
पुस्तक केन्द्र
७६ एफ, कमलानगर, दिल्ली

मूल्य दस रुपए

आवरण
श्री एम० के० सिन्हा

मुद्रक
हिन्दी प्रिंटिंग प्रेस
क्वींस रोड, दिल्ली ६

भारती के उन वरद पुत्रों को
जिन्होंने भेंट-वार्ताओं के माध्यम से
सहृदयों को अपने सृजन की
मनोभूमि तक पहुँचने का
अवसर प्रदान किया,
सादर-साभार समर्पित

संदर्भ

पिछले आठ-दस वर्षों में अनेक शीर्षस्थ साहित्यकारों के सृजन को केन्द्र बनाकर उनके साथ मेरी भेंट-वार्ताएँ हुई हैं। उन पर आधारित मेरे लेख समय-समय पर पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहे हैं। यह पुस्तक उन्हीं लेखों का संकलन है।

सृजन-प्रक्रिया के दौरान सर्जक का तो मानस-मंथन होता ही है, पर पठन-प्रक्रिया में पाठक भी भीतर ही भीतर कम नहीं मथा जाता। पाठ्य कृति के माध्यम से पाठक तक जो पहुँच रहा होता है और उसके भीतर जो पहले से रहता है—इन दोनों का मिलन सहज ही नहीं हो जाता। कृति में से जो पाठक की ओर आता है, उसे पाने और पचाने में कई बार तो पाठक के समूचे व्यक्तित्व को जूझ जाना पड़ता है; और यह प्रक्रिया पुस्तक पढ़कर अलग कर देने पर भी समाप्त नहीं होती, बल्कि पाठक के चेतन-अवचेतन में वर्षों चलती रह सकती है। कोई-कोई कृति तो पाठक के भीतर अनन्त जिज्ञासाएँ जगा जाती है और जब वह पूरी तरह जूझ लेने पर भी उनसे उबर नहीं पाता तो कृति का मूल स्वर पहचानने की चेष्टा में सृजन की मनोभूमि तक पहुँचने का प्रयत्न करता है। जब भी कृतिकार से उसका साक्षात्कार होता है, वह उसके सृजन-क्षणों की झाँकी पाने और उसके मुख से समाधान सुनने के लिए मचल उठता है। सर्जक द्वारा दिए गए समाधानों को अन्तिम और अकाट्य न मानें तो भी इतना तो निश्चित ही है कि उनसे कृति पर नया प्रकाश पड़ता है और उसे समझने में सहायता मिलती है।

पाठक की इसी सहज प्रकृति ने मुझे साहित्यिक भेंट-वार्ताओं की ओर प्रवृत्त किया। विभिन्न कृतियों को पढ़ते-पढ़ते मैं भी असंख्य जिज्ञासाएँ संजोए था और भीतर ही भीतर उनसे जूझते हुए अनेक के तो मैंने अपने लिए समाधान भी ढूंढ़ निकाले थे। फिर भी, अनेक जिज्ञासाएं ज्यों की त्यों खड़ी मुझे बराबर घूरती रहती थीं। वास्तव में, ऐसी जिज्ञासाएँ ही मुझे कृतिकारों से मिलकर उनकी कृतियों पर चर्चा करने को प्रेरित करती रही हैं। जब भी मुझे साहित्यकारों से भेंट-वार्ता का अवसर मिला, मैंने उनके सम्मुख अपनी जिज्ञासाएँ निस्संकोच और अविकल रूप में रख दीं। कई बार तो मुझे भी लगता था कि मेरी जिज्ञासाएँ अटपटी और बेहद तीखी हैं, पर इसे मैं उनकी महानता ही कहूँगा जो उन्होंने मुझे न केवल भेंट-वार्ता का अवसर प्रदान किया, बल्कि मेरे आक्रामक प्रश्नों को भी सहकर उनके सहज और संयत उत्तर दिए। इन भेंट-वार्ताओं में मेरा मूल लक्ष्य कृतिकार के सृजन-क्षणों की झाँकी पाना रहा है, न कि तर्कजाल फैलाकर उन्हें बहस में उलझा लेना—

बल्कि मैं सचेष्ट रहा हूँ कि चर्चा कोरी तार्किकता से बची रहे, क्योंकि अनुभव से मैं शीघ्र ही जान गया था कि तर्क-बुद्धि चर्चा को बार-बार चेतन स्तर पर घसीट लाती है, जबकि अमूल्य रत्न साहित्यकार के अवचेतन की अतल गहराइयों में से ही निकल सकते हैं।

भेंट-वार्ता की स्वीकृति मिल जाने पर मूल प्रश्नावली तो मैं पहले ही साहित्यकार को दे देता था, पर पूरक प्रश्न चर्चा में से निकले विचार बिंदुओं के आधार पर उसी समय पूछता था। भेंट-वार्ता टेप-रिकार्ड हुई हो अथवा आशुलिपिक ने उसके नोट लिए हों या चर्चा के दौरान मैंने उसे अपने हाथ से लिखा हो—अंतत वह टंकित हो जाती थी और मैं साहित्यकार को दिखाकर उसे सही करवा लेता था जिससे कि चर्चा की प्रामाणिकता असंदिग्ध रहे।

इन लेखों का संकलन क्रम क्या हो, इस विषय में बहुत सोच विचार के पश्चात मैं इस परिणाम पर पहुँचा कि इन्हें साहित्यकारों के वय क्रमानुसार रखा जाए और प्रत्येक के अंत में भेंट-वार्ता की तारीख लिख दी जाए। इनमें दो-तीन लेख लिखित प्रश्नोत्तरों पर आधारित हैं और मैंने उनमें इस आशय का संकेत कर दिया है।

जिस स्नेह और उदारता से साहित्यकारों ने मुझे इस कार्य में सहयोग दिया है उसके लिए मैं हृदय से उनका कृतज्ञ हूँ। इन भेंट वार्ताओं से विभिन्न कृतियों को समझने में मुझे जो दृष्टि मिली है, मेरे लिए तो वही बहुत बड़ी उपलब्धि है। पर यदि अन्य पाठकों को भी इनसे प्रकाश मिला—और मेरा विश्वास है, अवश्य मिलेगा—तो वह मेरे लिए अतिरिक्त संतोष का विषय होगा।

दीपावली,
२१-१०-१९६८

—रणवीर रांग्रा

क्रम

अनुभूतियों ने मुझे ठोंक-पीटकर कवि बनाया

खड़ी बोली-काव्य के पितामह श्री मैथिलीशरण गुप्त को जितना आदर और मान मिला उतना शायद ही किसी अन्य साहित्यकार को अपने जीवनकाल में मिला हो। हिन्दी-जगत् में वे सर्वसम्मति से राष्ट्रकवि के रूप में प्रतिष्ठित हुए। उनकी स्वर्ण और हीरक जयन्तियाँ देश-भर में बड़े उत्साह और समारोह के साथ मनाई गई। राष्ट्रपिता महात्मा गांधी के कर-कमलों से 'मैथिली-काव्यमान-ग्रंथ' प्राप्त करने का दुर्लभ सौभाग्य भी उन्हें मिला। साहित्य का श्रेष्ठतम पुरस्कार 'मंगला-प्रसाद पारितोषिक', विश्वविद्यालय की उच्चतम उपाधि डी० लिट्०, राज्यसभा की गौरवपूर्ण सदस्यता—अर्थात् वह सब, जिसकी कोई व्यक्ति कामना कर सकता है, गुप्तजी को प्राप्त हुआ। दूसरा कोई होता तो इतना कुछ पाकर मद में खो जाता। पर गुप्तजी अपनी प्रतिष्ठा को लेकर व्यस्त रहने वाले व्यक्तियों में नहीं थे। ज्ञान, प्रतिभा और वय में बड़े होकर भी वे परम वैष्णव भक्त की तरह सदा विनम्र और सबके लिए सुलभ रहे—वे सबके 'दद्दा' जो थे। चिरप्रसन्न मुद्रा में 'दद्दा' से अधिक निश्छल विनोदी शायद ही कोई दूसरा व्यक्ति मिले।

गुप्तजी से मिलकर उनका आशीर्वाद प्राप्त करने की साध तो वर्षों से थी, पर मिलते ही उनका निर्बाध स्नेह जो मुझपर बरसा उनकी अमर काव्य-कृतियों पर उनसे चर्चा करने की मुझे हिम्मत हो गई और एक दिन मैंने भेंट-वार्ता का प्रस्ताव कर दिया। व्यस्तता और अस्वस्थता दोनों के बावजूद गुप्तजी ने जो मेरी प्रार्थना मान ली, इसे मैं उनकी महानता ही कहूँगा। उनके कवित्व का आरम्भ कब और कैसे हुआ, यह जानने की इच्छा से मैंने पूछा, "अपने स्वर्ण-जयन्ती-समारोह में आपने कहा था, 'मेरे बाल-हृदय ने जो घर देखा, वही बाहर भी देखा। मेरे घर के वैभव को व्यापार ले बैठा था और बाहर सब कुछ विदेशी व्यापारी लिए बैठे थे। मैं अपना ही रोना लेकर देश के लिए रोने वाला बन बैठा।' आपके कवित्व के स्फुरण में किन भीतरी और बाहरी प्रेरणाओं का हाथ रहा?"

मेरा प्रश्न सुनकर गुप्तजी के मुख पर चिर-परिचित मुस्कान दौड़ गई और वे बोल उठे, "आपने तो एक ही प्रश्न में मेरा पूरा इतिहास पूछ डाला।" इतना कह-कर वे रुक गए और उनकी मुद्रा गम्भीर होने लगी, मानो उनकी स्मृति में अतीत

के चलचित्र उभरने लगे हो। उन्हें पकड़ने की चेष्टा करते हुए वे कहने लगे, "अपनी बाधा व्यथाओं से दूसरों की बाधा-व्यथाओं का अनुभव करने में मुझे कितनी सहायता मिली, यह तो मैं नहीं कह सकता, परन्तु अपनी रचनाओं में उन्हें दूसरों के मत्थे मढ़कर आप हल्के होने का प्रयत्न मैं अवश्य करता रहा। बाह्य-परिस्थितियों ने नहीं, अन्त परिस्थितियों ने ही मेरी सच्ची सहायता की। मेरी अनुभूतियों ने ही मुझे ठोक-पीट कर कवि बना दिया।

"मेरे पिताजी अनन्य वैष्णव भक्त थे। 'रामचरितमानस' और 'अध्यात्मरामायण' दोनो के पाठ प्रति सप्ताह पूरे किया करते थे। मैंने भी मानस के अनेक पारायण किए हैं। मैंने संस्कृत और हिन्दी के अनेक सुभाषित भी कंठ किए थे और मैं उन्हें अकेले में अपनी धुन से दुहराया करता था। धीरे-धीरे औरों के सम्मुख भी पढ़ने लगा था। उन्हीं दिनों की यह बात भी नहीं भूलती जब एकांत में बैठकर मैंने राजा लक्ष्मणसिंह की 'शकुन्तला' पढ़ी थी। उसे पढ़कर कितने ही क्षणों तक मैं वैसा निस्तब्ध बैठा रह गया था। उस तेरह-चौदह वर्ष की आयु में कैसे ऐसा भावोद्रेक हुआ, नहीं जानता।

"परन्तु मेरे कवित्व का प्रारम्भ, जहां तक मैं समझता हूँ, इस प्रकार हुआ पिताजी ने 'कवितावली' के अनुकरण पर कुछ सवैये भी लिखे थे। एक छन्द में सीताजी से उनकी माताजी कहती हैं

दूर गली जनि जाहु लली निज आंगन खेल रचो रस भीनो,
'कनकलता' हिय मांहि बसो नित तात औ मात को जीवन जीनो।

इस छन्द में 'कनकलता' नाम अपनी सहज गति से नहीं आता। यह बात मुझे खटकी। मैंने सोचा, पिताजी का नाम 'कनकलता' न होकर 'स्वर्णलता' अथवा 'हेमलता' होता, तो अच्छा होता। सवैया पढ़ते समय मैं 'स्वर्णलता' ही कहने लगा। मेरे भीतर यहीं से छन्द का उदय हुआ समझिए।"

'भारत-भारती' के प्रकाशित होते ही हिन्दी-जगत् में इसकी धूम मच गई थी। अगस्त १९१४ की सरस्वती में 'भारत भारती का प्रकाशन' शीर्षक से पुस्तक-परिचय देते हुए आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने लिखा था, "यह काव्य वर्तमान हिन्दी-साहित्य में युगान्तर उपस्थित करने वाला है। वर्तमान और भावी कवियों के लिए यह आदर्श का काम देगा।" आज भले ही ऐसा न दीखे, पर अंग्रेजों के दमन चक्र को देखते हुए लगता है कि राष्ट्रीय भावनाओं से ओत-प्रोत 'भारत-भारती' जैसी रचना को प्रकाश में लाना उन दिनों बड़े जोखिम का काम था। हो सकता था कि पुस्तक जब्त हो जाती और गुप्तजी जेल में होते। पर ऐसा होने से बच कैसे गया, यह जानने के लिए मैंने पूछा, "आपकी 'भारत भारती' ने समस्त राष्ट्र को झकझोड़ कर मोहनिद्रा से जगा दिया था। अंग्रेजों की दमन-नीति का अनुमान करके हम लोगों को आज भी आश्चर्य होता है कि यह रचना जब्त होने से बच

कैसे गई। अपनी इस कृति के छपने से पहले और उसके बाद आपको इस दिशा में क्या कुछ करना पड़ा था ?"

प्रश्न सुनते ही गुप्तजी ठहाका मारकर हंस पड़े और फिर मुझसे बहुत दूर देखते हुए आज से पचास वर्ष पहले के युग में पहुँच गए। इस अतीत यात्रा से उनकी आँखों में तो और चमक आ गई, पर चेहरे पर किसी कसक के चिह्न उभर आए और वे सप्रवाह कहने लगे, " 'भारत-भारती' लिखने के लिए मैंने जब आचार्य द्विवेदीजी से परामर्श किया तो उन्होंने लिखा, 'आजकल ऐसी पुस्तक लिखने पर शासकों से लेखक की रक्षा कौन करेगा ?' पर राजा रामपालसिंह ने आश्वासन दिया कि 'हम राजद्रोही थोड़े हैं ?' मेरे सभी स्वजन और हितैषी चाहते थे कि 'भारत-भारती' जब्त न हो और मुझे जेल भी न जाना पड़े। उनके अनुरोध पर मुझे अपने बहुत से मूल पदों को, जिन्हें वे आपत्ति-जनक समझते थे, बदल देना पड़ा। जैसे—'जन्म लेते हैं तिलक-से धीर-वीर अभी यहाँ' को बदलकर 'तो जन्मते हैं कुछ दृढ़ व्रत लोक-मान्य अभी यहाँ' करना पड़ा। तिलक का नाम निकालकर 'लोकमान्य' से उसकी पूर्ति की गई थी। 'भारत-भारती' की रचना में मुझे आत्मदमनमयी मानसिक व्यथा झेलनी पड़ी। अपने पद्यों की हितैषियों द्वारा की गई काट-छांट मुझे आज पचास वर्ष बाद भी मुंदी मार-सी कसकती है। पर उस समय मैं जो कुछ नहीं कह सका, उसे और भी उग्र रूप में 'अजित' नामक पुस्तक में मैंने निर्भय होकर कह डाला।

" 'भारत-भारती' के प्रकाशित होने के बाद का इतिहास और भी मजेदार है। अंग्रेजी राज्य के गुप्तचर विभाग ने 'भारत-भारती' का अर्थ समझा 'जनाना हिन्दुस्तान'। राजा रामपालसिंह ने बड़े प्रयत्न से लखनऊ में चीफ़ सेक्रेटरी से मिलकर 'भारत-भारती' की जाँच-पड़ताल सम्बन्धी फाइल को दाखिल दफ़्तर करवा दिया। 'भारत-भारती' का 'विनय' गीत पाठशालाओं में प्रार्थना के रूप में गाया जाने लगा था। बिहार-शासन और मध्यप्रदेश-शासन ने इस गीत को जब्त कर लिया। लहे-रियासराय के डिस्ट्रिक्ट बोर्ड ने पटना हाइकोर्ट में अभियोग उपस्थित किया और चीफ़ जस्टिस ने यह निर्णय किया कि 'विनय' आपत्तिजनक कविता नहीं है। इसके बाद सरकारी प्रतिबन्ध उठा लिए गए। 'भारत-भारती' की पूरी फाइल श्री माखन-लाल चतुर्वेदी ने आन्दोलन चलाने के लिए ले ली थी। पर बाद में वह कहाँ गई, इसका कोई पता नहीं चला। मुझे इस फाइल के खो जाने का बराबर खेद रहा है।"

गुप्तजी राम के अनन्य भक्त थे। अपने सभी काव्य-ग्रन्थों का मंगलाचरण उन्होंने राम के नाम से ही किया है। राम के अतिरिक्त उन पर और कोई दूसरा रंग चढ़ ही नहीं सकता, यह उन्होंने 'द्वापर' के मंगलाचरण में स्वीकारा भी है :

धनुर्बाण या वेणु लो श्यामरूप के संग,
मुझपर चढ़ने से रहा राम, दूसरा रंग।

पर 'साकेत' में उन्होंने राम को नहीं, उर्मिला को ही अपना केन्द्र बनाया है। भला ऐसा क्या हुआ, यह जानने के लिए मैंने पूछा, "साकेत में राम-कथा की धारा को उर्मिला की ओर मोड़कर आपने राम को नारायण की गद्दी से उतारकर नर के समक्ष ला खड़ा किया जो बहुत बड़ी बात है। प्रारम्भिक पृष्ठ की इस व्यंग्योक्ति में यह बात और भी उभरकर सामने आ जाती है

राम तुम मानव हो, ईश्वर नहीं हो क्या?
तो मैं निरीश्वर हूँ, ईश्वर क्षमा करें।

राम के अनन्य भक्त होते हुए भी आपसे यह कैसे सम्भव हो पाया?"

मेरा प्रश्न सुनते ही गुप्तजी गहरी सोच में पड़ गए और कमरे में इधर से उधर और उधर से इधर चिन्तनमुद्रा में चक्कर लगाने लगे। उनकी बेचैनी देखकर मैं घबराया कि कहीं भेंट-वार्ता यहीं समाप्त न हो जाए। चक्कर लगाते-लगाते वे सहसा मेरे सामने आकर रुक गए और बोले, 'इस प्रश्न का उत्तर देने से पहले ही एक स्वीकारोक्ति कर लेना हूं कि 'साकेत' के प्रारम्भिक पृष्ठ पर से आपने यहाँ जो पद्य उद्धृत किया है, उसकी रचना 'साकेत' से बहुत पहले हो चुकी थी। वास्तव में, उसकी रचना एक आर्यसमाजी पंडित के प्रत्युत्तर में हुई थी। 'साकेत' में तो उसे बाद में जड़ दिया गया। वस्तुतः 'रामचरितमानस' के सीताराम 'साकेत' के नायकों के भी नायक और सबके नियंता अथवा शासक के रूप में प्रतिष्ठित हैं। मेरे मानस में वे अपना जप जपाते हैं, किन्तु 'साकेत' में पाठ पढ़ाते हैं।

"सख्यभाव की उपासना में दीक्षित होने हुए भी मानस के राम के समीप मुझे बहुत सावधान रहना पड़ता है। उनकी मित्रता माना राजा की मित्रता है जो हाथी पर चढ़ाते-चढ़ाते सूली पर भी चढ़ा सकती है। इसलिए मुझे उनसे डर लगा रहता है। वह अत्यन्त भय 'साकेत' में भी नहीं छूटा और मुझे उन्हें प्रभु कहते ही बना है। फिर भी, मानो मेरा भाव समझकर 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्' के अनुसार 'साकेत' में वे उसी प्रकार आ बैठे हैं जैसे बापू अपने बड़प्पन को लिखने की गद्दी पर छोड़कर आश्रम के बच्चों के बीच में आकर हँसने-खेलने थे।

"रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने एक स्थान पर लिखा है, 'रामायण में किसी देवता ने अपने को खर्व करके मनुष्य नहीं बनाया है, एक मनुष्य ही अपने गुणों के कारण बढ़कर देवता बन गया है।' कवि ठाकुर की लेखनी में ऐसी शक्ति है कि वह किसी साधारण से साधारण पात्र को लेकर भी उसे बढ़ा-चढ़ाकर देवत्व प्रदान कर सकती है। परन्तु मेरे लिए तो यही आधार है कि स्वयं देवता नहीं लीलामय ब्रह्म भी स्वयं अपने को अवतीर्ण करके मेरे बालविनोद में सम्मिलित हो जाए। इसलिए 'साकेत' के राम ने मानो अपनी अलौकिकता को छोड़कर अधिकतर लौकिकता ही धारण कर ली है।

"मैंने एक कथा में सुना है कि स्वर्ग में भी एक विषाद रहता है। स्वर्गीय प्राणी

भी हम नीचे पड़े हुओं को देखकर दुःख से हाय-हाय करते हैं। यही तो हम लोगों के लिए सहारा है। 'साकेत' के पात्रों ने हठ कर लिया है कि वे राम को रुलाकर ही छोड़ेंगे। हम रोते रहें, यह नहीं हो सकता। अस्तु, भरत ने राम को रुलाकर ही छोड़ा, और धोखा देकर नहीं, डंके की चोट से। इसे स्वयं राम ने भी स्वीकार किया है :

रे भाई, तूने रुला दिया मुझको भी,
शंका थी तुझसे यही अपूर्व अलोभी।

उर्मिला और लक्ष्मण के आगे तो राम को माता-पिता की आज्ञा से राज्य छोड़कर वनवास स्वीकार करने के गौरव का गर्व भी छोड़ देना पड़ा :

लक्ष्मण, तुम हो तपस्पृही, मैं वन में भी रहा गृही।
वनवासी है निर्मोही, हुए वस्तुत: तुम दो ही॥

राम की इस पराजय में मुझे प्रसन्नता है। कारण, जैसा मैं कह चुका हूँ, मैं उनसे डरा करता था। दूसरे, इससे मेरा वह उद्देश्य भी सिद्ध हो गया, जिससे मैंने उन्हें नायक के बदले शिक्षक के पद पर प्रतिष्ठित किया था।''

चर्चा को 'साकेत' से 'यशोधरा' की ओर मोड़ते हुए मैंने प्रश्न किया, "यशोधरा में त्याग और सहिष्णुता के साथ आत्माभिमान का भाव भर कर आपने उसे जो गौतम के बराबर, बल्कि उससे भी ऊपर, उठा दिया है उसमें निवृत्ति-मार्ग की अपेक्षा प्रवृत्ति-मार्ग की सार्थकता दिखाना ही अभीष्ट रहा है या कुछ और भी? यशोधरा के इस उपालम्भ में यह बात निखर उठी है :

जाओ नाथ, अमृत लाओ तुम, मुझमें मेरा पानी।
चेरी ही मैं बहुत तुम्हारी, मुक्ति तुम्हारी रानी॥

गुप्तजी बोले, " 'साकेत' की उर्मिला ने 'यशोधरा' की रचना का मार्ग प्रशस्त किया है। उर्मिला के विरह में यौवन-सुलभ विकलता है और चंचलता भी। नारी को महिमामयी के रूप में प्रकट करने की मेरी इच्छा ने ही यशोधरा को आत्म-दर्पमयी भी बनाया है और उसे जीवन की उत्थानशील प्रवृत्तियों से अनुप्राणित किया है। त्याग और सहिष्णुता ने यशोधरा की प्रेममयी करुण मूर्ति में भारतीय नारीत्व के आदर्श की प्राण-प्रतिष्ठा की है। फलस्वरूप, यशोधरा में उर्मिला की अश्रुधारा को संयत होना पड़ा और आत्माभिमान के कारण स्वतन्त्र अस्तित्व धारण करना पड़ा। गौतम की अवमानना सहन करके यशोधरा की मनोव्यथा गहन ही नहीं हुई, प्रत्युत् इससे उसकी आत्मगौरव की भावना प्रदीप्त भी हुई है। गर्विणी गोपा की स्वतन्त्र सत्ता और पृथक् महत्ता को दिखाने के लिए मैंने महाराज शुद्धोधन से भी कहलाया है कि "गोपा बिन गौतम भी ग्राह्य नहीं मुझको।" यशोधरा की साधना में वियोगिनी अबला के पत्नीत्व और मातृत्व दोनों रूपों में सामंजस्य बैठाने की चेष्टा निहित है। आपको इसमें निवृत्ति-मार्ग की तुलना में प्रवृत्ति-मार्ग की सार्थकता दीखी तो यह आपकी तीक्ष्ण दृष्टि से बच कैसे सकती

थी ? मैंने तो तुलसीदल देकर ही तथागत की पूजा करनी चाही है। वैष्णवों के लिए भक्ति ही यथेष्ट है, विरक्ति किंवा वैराग्य वैसा नहीं। यशोधरा कहती है

कर्तव्य काम भी काम, स्वधर्म धरें हम।
संसार हेतु शतबार सहर्ष मरें हम।

अपने जीवनकाल में ही जितनी कीर्ति गुप्तजी को मिली, उतनी शायद ही किसी अन्य साहित्यकार को मिली हो, पर आलोचना की मार उन्हें भी सहनी पड़ी थी। जब-जब और जितनी अधिक उनकी प्रशंसा हुई तब-तब चारों ओर से और उतने ही तीखे आलोचना-बाण उनपर छोड़े गए। सामान्य कविहृदय तो कभी का छलनी होकर टूट गया होता। पर गुप्तजी भी एक ही थे। आलोचनाओं के आँधी-तूफानों में भी वे हिमालय के समान अडिग रहे। उनमें ऐसा क्या है जिसके सहारे वे कटु से कटु आलोचना को भी मुस्कराते हुए झेल गए, यह जान लेना आज के साहित्यकार के लिए उपयोगी हो सकता है, इस दृष्टि से मैंने पूछा, "आज का लेखक तो थोड़ी-सी तीखी आलोचना से ही तिलमिला उठता है, पर आप आलोचना के तीव्रतम वज्राघात —'लिखना सब अजमेरी है और छपना सब मैथिलीशरण गुप्त के नाम से है'—को भी सह गए। आपके विचार से कृतिकार को आलोचना के प्रति क्या दृष्टिकोण अपनाना चाहिए ?"

गुप्तजी बोले, "मेरी खूब प्रशंसा हुई है तो मेरे प्रतिकूल आलोचनाएँ भी कम नहीं निकलीं। स्वर्गीय बाबू कामताप्रसाद गुरु ने 'सरस्वती' में मेरे भाषा-सम्बन्धी दोषों का विवरण दिया था और लाला भगवानदीन जी ने अस्तंगत 'लक्ष्मी' में मेरी काव्यसीमा दिखाई थी। 'साकेत' को लेकर तो एक लम्बा विवाद ही चल पड़ा था जो 'विशाल भारत', 'आज', और 'भारत' में छपा था और उसमें महामागधी और आचार्य द्विवेदी ने भी भाग लिया था। सुनने में आया था कि कानपुर के कविगण अत्यानुप्रासप्रियता के कारण मुझे 'तुकाराम' कहने लगे थे। मेरी वेशभूषा का और स्लेट पर काव्य रचना करने का भी परिहास किया गया। सन् १६३६-३७ में 'साकेत' पर मंगलाप्रसाद पुरस्कार मिलने पर कई लोगों ने उल्टे-सीधे मत भी प्रकट किए।

'यह तो सब हुआ, पर मुझे वास्तविक पीड़ा तब हुई जब 'प्रसाद के दो नाटक' नामक पुस्तक को, जो कृष्णानन्द गुप्त ने लिखी थी, प्रसाद जी ने मेरे द्वारा प्रेरित आलोचना मान लिया। यह ठीक है कि उस पुस्तक के लेखक हमारे प्रेस में थे, पर उसके पीछे मेरा हाथ बिल्कुल नहीं था। कालान्तर में काशी के 'आज' में 'साकेत' का दोष-दर्शन किया जाने लगा और कुछ लोगों ने हम दोनों के अच्छे सम्बन्ध न रहने का लाभ उठाया। अन्त में श्री वाचस्पति पाठक के प्रयत्न से हम दोनों की चित्तशुद्धि हुई और पारस्परिक सौहार्द स्थायी हो सका।

"इस विषय में मेरी रक्षा आत्मविश्वास ने की अथवा निर्लज्जता ने, यह मैं

नहीं कह सकता। फिर भी मैं अपनी प्रतिकूल आलोचनाओं से हतोत्साहित नहीं हुआ। वहुधा और भी उत्साह से अपने काम में लग गया। मेरे जिन आलोचकों ने आलोचना के साथ व्यंग्यविनोद किए है, उन्होंने अपने परिश्रम का परिहार ही किया है, जिसका उन्हें अधिकार था। उनके प्रति मेरे मन में भी उपेक्षा के भाव कम न थे। परन्तु अपने युगपुरुष बापू का थोड़ा भी सम्पर्क मुझे प्रेरित करता है कि उनके प्रति भी नतमस्तक होकर मैं अपनी कृतज्ञता प्रकट करूँ।"

गुप्तजी के साथ चर्चा में बहुत ही रस आ रहा था। हमें बैठे चार घण्टे होने को थे, पर किसी को समय का ध्यान ही नहीं रहा। मुझे लगा, उनका इतना समय लेकर मैं उनके साथ ज्यादती कर रहा हूँ; यह तो उनका अनुग्रह है कि मेरे प्रत्येक प्रश्न को वे बड़ी गहराई में उतर कर ले रहे हैं। यह विचार आते ही चर्चा को समेटते हुए मैंने अन्तिम प्रश्न किया: "अपनी किस कृति में आपको सृजन का सर्वाधिक आनन्द मिला और ऐसा लगा कि उसके माध्यम से आपने देने की अपेक्षा पाया अधिक है?" प्रश्न के दूसरे छोर को पकड़कर गुप्तजी झट बोल पड़े, "मैं इसका क्या उत्तर दूँ। यही कह सकता हूँ कि मै पाता ही गया और मैंने पर्याप्त पाया है।"

५-१२-१९६३]

○

श्री वृन्दावनलाल वर्मा

ऐतिहासिक उपन्यास : एक चुनौती

हिन्दी में तो वैसे ही ऐतिहासिक उपन्यासकारों की कमी है, पर जो हैं वे भी इतिहास और साहित्य में संतुलन नहीं बैठा पाए। वृन्दावनलाल वर्मा हिन्दी के पहले उपन्यासकार हैं जिनकी रचनाओं में इतिहास और साहित्य परस्पर विरोध को भूल, एक-दूसरे से कंधा मिलाकर चलते हैं। 'गढ़ कुंडार' और 'विराटा की पद्मिनी' से लेकर 'झांसी की रानी', 'मृगनयनी' और 'अहिल्याबाई' तक वर्माजी ने हिन्दी-साहित्य को अनेक सफल उपन्यास दिए हैं जो इतिहास और कला दोनों की कसौटी पर खरे उतरते हैं। वर्माजी में इतिहासकार की उत्कट जिज्ञासा ही नहीं, कलाकार की ममता भी है। ये दोनों गुण ऐतिहासिक उपन्यास के प्रति उनके दृष्टिकोण में चार-चांद लगा देते हैं, "यदि लेखक ने व्यक्ति के भीतर भरे पुरुषार्थ और सत्सिद्धान्त पर बलिदान होने की शक्ति को जगा दिया तो इतिहास के प्रकाशमान तथ्यों की जैसी व्याख्या होनी चाहिए, वैसी व्याख्या हो गई।"

वर्माजी के उपन्यास पढ़ते समय बरबस उन्हें दाद देनी पड़ी तो विविध पक्षों पर अनेक जिज्ञासाएं भी जगीं। उनसे दो बार भेंट हुई और वार्ता भी चली, पर उनके उपन्यासों पर जमकर चर्चा न हो सकी। अन्ततः पत्र का सहारा लेना पड़ा। इतिहास और उपन्यास के परस्पर विरोध का उल्लेख करते हुए मैंने पहला प्रश्न किया, "लेज़ली स्टीफन का कहना है कि ऐतिहासिक कथानक अच्छे उपन्यास के लिए घातक सिद्ध होता है, जबकि इतिहासकार पालग्रेव की धारणा है कि ऐतिहासिक उपन्यास इतिहास का शत्रु है। एक साथ दो नावों में सवार होने के कारण ऐतिहासिक उपन्यास साहित्य और इतिहास दोनों में से किसीकी भी कसौटी पर पूरा नहीं उतर पाता। इस जोखिम के बावजूद आपने एक नहीं अनेक सफल ऐतिहासिक उपन्यास लिखे हैं। कृपया बताएँ, आप कैसे इन दोनों में सन्तुलन बैठा लेते हैं।"

इतिहास और उपन्यास के विरोध की बात को झुठलाते हुए वर्माजी ने उत्तर दिया, "ये दोनों मत गलत हैं, यूरोप के ऐतिहासिक उपन्यासकारों के विवेचन पर आधारित जान पड़ते हैं। जहाँ तक मेरी बात है ऐतिहासिक उपन्यास लिखने से पहले मैं सामग्री इकट्ठी करता हूँ। अध्ययन करके नोट्स लिखता हूँ। फिर ध्यान

को केन्द्रित करता हूं। उपन्यास लिखते समय अदल-बदल की जरूरत अनुभव नहीं होती है। सामाजिक उपन्यासों के लिखने से पहले विषय और उद्देश्य को खूब सोचता हूं। फिर बेखटके लिखता रहता हूं। प्रभु की कृपा से सन्तुलन बना रहता है।"

मेरा अगला प्रश्न था, "आपने अपने उपन्यासों द्वारा हिन्दी-साहित्य को अनेक सुदृढ़ (पॉज़िटिव) पात्र दिए हैं जो जीवन के आंधी-तूफानों में सदा हिमालय की तरह अडिग खड़े रहते हैं। फिर भी लगता है कि आपकी रचनाओं में जितना बाह्य उजागर हुआ है उतना अभ्यन्तर नहीं। पात्रों का अभ्यन्तर इतिहास की पहुँच से चाहे परे हो, उपन्यासकार की पकड़ से कैसे बच सकता है?" मेरे प्रश्न को काटते हुए वर्माजी ने कहा, "मेरे उपन्यासों में 'पॉज़िटिव' पात्रों का अभ्यन्तर भी व्यक्त हुआ है। समालोचक उन्हें कई बार पढ़ने का कष्ट उठावें।"

वर्माजी के प्रारम्भिक और परवर्ती उपन्यासों की तुलना करते हुए मैंने पूछा, "कुछ लोगों को आपके परवर्ती उपन्यासों ('झांसी की रानी', 'मृगनयनी' आदि) की अपेक्षा प्रारम्भिक उपन्यासों ('गढ़कुंडार', 'विराटा की पद्मिनी' आदि) में अधिक रस मिलता है। आपके विचार से ऐसे पाठकों को किस विकासावस्था में समझना चाहिए?" उत्तर में वर्माजी ने कहा, "मेरे परवर्ती उपन्यास इतने अच्छे नहीं लगते जितने पूर्व वाले, मुझसे कारण पूछा गया है। इसका उत्तर तुलसीदास की चौपाई में है:

जाकी रही भावना जैसी,
प्रभु मूरत देखी तिन तैसी।

भावना मुख्य तत्त्व है और रूसी मनोविज्ञानी पावलोव के मनोविज्ञान-शास्त्र के अनुसार 'कन्डीशण्ड रिफलेक्सेज़'।"

चर्चा को चरित्रचित्रण पर लाते हुए मैंने पूछा, "चरित्र-चित्रण की दृष्टि से मुझे 'झाँसी की रानी' आपका सर्वश्रेष्ठ उपन्यास लगता है। पर उसमें कथोपकथनों की भरमार के कारण पाठक को कई बार ऐसा लगता है कि जीवन में कम से कम बोलने और अधिकाधिक करने वाली झांसी की रानी को इस उपन्यास में बोलने के अधिक और करने के कम अवसर मिले हैं। क्या इसका मूल कारण उपन्यास-कला की सीमा माना जाए?" प्रश्न बेहद तीखा था। प्रतिक्रिया भी वैसी ही हुई: "जी नहीं। अनेक विद्वानों के मत आपके मत के विरुद्ध है।"

ऐतिहासिक उपन्यास के प्रति लेखकों के उपेक्षा-भाव की चर्चा करते हुए मैंने पूछा, "हिन्दी-साहित्य में ऐतिहासिक उपन्यासों की रचना उत्तरोत्तर घट रही है। आपके विचार से इसका मुख्य कारण क्या है।" वर्माजी ने उत्तर दिया, "ऐतिहासिक उपन्यास का लेखन बहुत परिश्रम मांगता है, गहरी रुचि चाहता है और भ्रमण में समय भी बहुत लगता है। इसके ऊपर सत्यं, शिवं सुन्दरम् की माँग।"

चर्चा को समेटते हुए मैंने पूछा, "हिन्दी के कई उपन्यास फिल्माए गए हैं और

कुछ फिल्माए जा रहे हैं। आपके ऐतिहासिक उपन्यासों के भी सफल चलचित्र बन सकते हैं। क्या आपने इस दिशा में कभी नहीं सोचा ?"

प्रश्न का स्वागत करते हुए वर्माजी ने कहा, "बराबर सोचा है, और सोचता रहता हूँ। फिल्म-मनोविज्ञान का विद्यार्थी भी हूँ, परन्तु कोई ऐसा निर्माता भी तो मिले। तोड़ने मरोड़ने बिगाड़ने वाले निर्माताओं से नहीं पटी—जैसे, सोहराबमोदी से, जिसने लक्ष्मीबाई पर फिल्म बनाया था। उससे मेरा मतभेद हुआ। मैंने अपने उपन्यास के 'सत्यानाश' करने की अनुमति नहीं दी। कोई अच्छा निर्माता, पूंजी वाला, मिल जाए तो मैं अपना पूरा सहयोग देने के लिए तैयार हूँ। मैंने एक चार्ट भी बनाया है जिसके लगभग अनुसरण से सफल फिल्म बन सकती है। उससे पूंजी लगाने वाले को लाभ होगा एवं समाज यानी दर्शकों को प्रेरणा मिलेगी।"

२१-१-१९६५ }
२३-१९६८ }

o

श्री सियारामशरण गुप्त

अपने सतयुगी पुरुष के साथ साक्षात्कार

साहित्यकार का जीवन साधना का जीवन है। दीए की भाँति जलकर भी वह दूसरों को प्रकाश देता है। जीवन भर व्यथा में तपकर वह जो पाता है, उसे अपनी रचना में ढालकर सबका बना देता है। जीवन और जगत् के समस्त विष को वह साधना के बल से अमृत कर लेता है। इसीलिए तो गीताकार ने साहित्य-साधना को 'वाङमय तप' माना है। पर आज ऐसे कितने साहित्यकार हैं जो सृजन को साधना या तप के रूप में लेते है, जिनके निकट साहित्य व्यवसाय न होकर आत्म-दर्शन का सोपान है और जो साहित्यकार ही नहीं, संत भी है ?

भारतीय मनीषियों की इस लुप्तप्राय परम्परा के उज्ज्वल प्रतीक थे कविवर सियारामशरण गुप्त। उनकी जीवन-व्यापी साधना से यह स्पष्टतः परिलक्षित होता है कि अपने भीतर साधुवृत्ति जगाए बिना सच्चे अर्थ में कोई साहित्यकार बनने की सोच भी नहीं सकता। अपने काव्य 'नकुल' में तो उन्होंने निर्भ्रान्त स्वर से इस मूल सत्य को व्यक्त किया है :

> मुझको तो विश्वास नहीं है रंचक इसमें।
> देगें कैसे अमृत बुझे स्वयमपि जो विष में।।

इस संत-कवि का व्यक्तित्व पीड़ा से बना है। फिर भी, उसमें मधुरता की कमी नहीं। जीवन साथी श्वास रोग की कृपा से उनका शरीर अत्यन्त जीर्ण-शीर्ण हो चुका था। फिर भी, मन में कहीं तिक्तता नहीं, व्यवहार में कहीं कटुता नहीं, स्वभाव में कहीं कठोरता नहीं। घोर व्यथा के बीच से छनकर आई अद्भुत धैर्य-निष्ठा का ही तो यह प्रसाद था कि अस्वास्थ्य से लगातार जूझते हुए भी वे 'मृण्मयी' 'बापू', 'उन्मुक्त' आदि अमर काव्यों, 'गोद', 'अन्तिम आकांक्षा' और 'नारी' जैसे मर्मस्पर्शी उपन्यासों, 'झूठ-सच', 'मनुष्य की आयु सौ वर्ष', 'अन्य भाषा का मोह,' 'घूँघट' सरीखे तीखे, व्यंग्य भरे निबन्धों और अनेक कहानियों के प्रणयन द्वारा निरन्तर हिन्दी-साहित्य की श्रीवृद्धि करते रहे है। उनकी प्रत्येक रचना में शान्ति-दायिनी सात्त्विकता और सच्चे आस्तिक की स्थिरता मिलती है, जो सहज ही पाठक के मन को छू लेती है।

इस तपस्वी साहित्यकार से मिलकर उसके साहित्य पर चर्चा करने की मेरी

इच्छा बहुत पुरानी थी। आखिर, पिछले दिनों सुयोग मिल ही गया। जब मैं सियारामशरणजी के यहां गया तो दद्दा (राष्ट्रकवि श्री मैथिलीशरण गुप्त) के दर्शन लाभ का भी सौभाग्य प्राप्त हुआ। दोनों भाइयों के व्यवहार में इतनी आत्मीयता थी कि थोड़ी ही देर में मुझे लगने लगा कि मैं उनके परिवार का अंग हो गया हूं। फिर, बापू (सियारामशरणजी अपने स्वजनों में इसी नाम से विख्यात थे, अपनी कृति 'बापू' के कारण) मुझे अपने कमरे में ले गए। इस विशाल कमरे में दीवार से सटकर बिछी एक छोटी सी दरी थी जिसपर एक तकिया रखा हुआ था। दरी पर एक ओर पुस्तकें बिखरी थी और दूसरी ओर दवाई की शीशियां-डिब्बियां रखी थीं। बस यही थी इस संत की साधना स्थली, नई दिल्ली की फिरोजशाह रोड पर स्थित संसद् सदस्यों के भव्य बंगले के एक कमरे में सिमटी-सी।

पिछले वर्ष आकाशवाणी इलाहाबाद केन्द्र से 'मेरी रचना प्रक्रिया' शीर्षक से गुप्तजी की एक वार्ता प्रसारित हुई थी। उसीमें से उनका एक वाक्य लेकर चर्चा आरम्भ करते हुए मैंने पूछा, "आपने एक स्थान पर कहा है, 'लोग जन्मजात कवि होते हैं, पर मैं जन्मजात रुग्ण हूं। इस कारण भी मैं वह नहीं लिख पाता जो लिखना चाहता हूं।' शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकार की पीड़ा के पालने में आपको इतना अधिक झूलना पड़ा है कि उसके प्रति आपका आक्रोश स्वाभाविक है। पर आपकी रचनाओं में अनुभूति की जो गहनता और एक सच्चे आस्तिक की स्थितप्रज्ञा के दर्शन होते हैं उसका श्रेय क्या इस जीवनव्यापी व्यथा को नहीं है?"

प्रश्न तीखा था, पर तनिक भी विचलित हुए बिना बापू शान्त और संयत स्वर में बोले, "आपसे अपना वाक्य सुनकर लगता है कि जन्मजात कवि के साथ अपने जन्मजात रुग्ण को एक आसन पर बैठाकर कहीं मैंने उसे कवि की प्रतिष्ठा स्वयं ही न दे डाली हो। आपने ध्यान नहीं दिया, यह आपकी अनुकम्पा है। रुग्ण को न मिलगी अनुकम्पा तो मिलेगी किसे? जीवन के अन्य क्षेत्रों में ही नहीं, साहित्य में भी उसे क्षमा मिलती है। यह मेरा अपना अनुभव है। इसलिए, कृपा के लिए और कुछ कहने से पहले धन्यवाद तो क्या दूं, अपनी प्रसन्नता ही प्रकट करता हूं।

"हां, मैंने अपनी रुग्णता को हमेशा अपने लिए वरदान ही माना है। एक बार मेरे एक उपन्यास के बारे में मुझसे प्रश्न किया गया, 'यह उपन्यास आपने क्यों लिखा?' मेरा उत्तर था, 'मैं रुग्ण था, इसलिए सरल कार्य ही करना चाहता था।' मेरे इस उत्तर की 'रुग्णता' का उल्लेख एक ख्यातिनाम्न और यामिक ने इन शब्दों में किया, 'देखिए, अपने सम्बन्ध में वह स्वयं ऐसा कह रहे हैं।' परन्तु वास्तव में, मैं जो कुछ लिख सका हूं मैं मानता हूं, वह लिखा न जाता यदि मैं शारीरिक दृष्टि से अस्वस्थ न होता।

"एक बार विख्यात उद्योगपति श्री घनश्यामदास बिड़ला ने मुझसे आग्रह किया कि मैं उनकी एक हिन्दी-सम्बन्धी योजना में कुछ काम करूं। जब मैंने उनसे

कहा कि शारीरिक अस्वास्थ्य के कारण मैं उस कार्य को करने में असमर्थ हूँ तो वे कहने लगे, 'आपकी रचनाओं से यह नहीं जान पड़ता कि आप अस्वस्थ हैं।' उनका यह कथन मुझे अपने साहित्यकार्य के लिए सर्वाधिक प्रशंसात्मक जान पड़ा और उसे मैं भूल नहीं सका। हो सकता है अपने अस्वस्थ जीवन से 'पलायन' करके स्वास्थ्य के लिए ही मैं साहित्य के क्षेत्र में पहुँच जाता होऊँ। पलायनवादी होने का आरोप मुझपर हुआ है, किन्तु वह इसलिए भी मुझे रुचता है कि पलायन की शक्ति भी नगण्य नहीं होती।"

निरन्तर एक ही प्रकार से सोचते रहने से कई बार साहित्यकार की विचार-धारा स्थिर और बद्धमूल हो जाती है और साहित्य के माध्यम से वह अपना जीवन-दर्शन दूसरों पर लादने लगता है। साहित्य-सृजन में बापू की मूल प्रेरणा क्या है, यह जानने की दृष्टि से मैंने प्रश्न किया : "लिखने की प्रेरणा आपको जीवन और जगत से सीधे मिलती है या उनके प्रति बन चुके अपने किसी दृष्टिकोण से?" प्रश्न सुनकर बापू कुछ देर मौन रहे, मानो अपने भीतर की गहराइयाँ नापने लगे हों। फिर सहसा उनके होंठ हिले और वे धीरे-धीरे कहने लगे, "मेरे जीवन का दृष्टिकोण कब और कैसे बन गया, इस बात का पता लगाना मेरे लिए भी अनुसन्धेय है। कहा जाता है कि मनुष्य का सम्पूर्ण व्यक्तित्व उसके जीवन के प्रथम पांच वर्षों में ही बन जाता है। ऐसे ही अपने किसी सतयुग में मैं पूरा बन चुका था। उसके बाद दूसरे युग आते हैं और मैं चाहूँ भी तो अपने को बदल नहीं सकता। बदलने की मुझे इच्छा भी नहीं होती। अपने उसी सतयुग के पुरुष के साथ साक्षात्कार करना ही मेरी साहित्यिक साधना है।" प्रश्न करते समय मैंने सोचा था, उत्तर काफी लम्बा होगा। पर बापू तो घुमाव-फिराव में न पड़कर सीधी बात करने वालों में थे। उन्होंने एक स्थान पर कहा भी है, "हृदय को समझने के लिए हृदय की बात ही यथेष्ट होती है। वहां तर्क का प्रवेश निषिद्ध है।"

सत्यनिष्ठ साहित्यकार अपने को जीवन के और जगत के प्रति खुला छोड़कर तो जीता ही है, पर भीतर के प्रति भी बन्द नहीं होने देता। रचना करते समय वह सामान्य धरातल से इतना ऊपर उठ जाता है कि धर्म के पाप-पुण्य, समाज के विधिनिषेध और शासन के भय-प्रलोभन उसके लिए ढीले पड़ जाते हैं। शिक्षा और संस्कारों द्वारा जनित पूर्वग्रहों की लौह शृंखलाएँ भी टूटती जाती है। तब उसकी चेतना में बाहर और भीतर के यथार्थों के नये रूप उभरते आते हैं और वह उनमें सन्तुलन बैठाता हुआ सत्य के निकट पहुँचता जाता है। रचना उसके लिए आत्म-बोध का साधन बन जाती है और यह आत्मबोध उसके भीतर असीम परितृप्ति भर देता है। रचना-प्रक्रिया की इस आनन्दमयी अवस्था की ओर संकेत करते हुए मैंने पूछा, "किसी कृति को रचते समय आपको कभी ऐसा भी महसूस हुआ कि उसे रचते समय आप स्वयं भी रचे जा रहे हैं, आपके सामने बाहरी और भीतरी सत्यों

के नये अर्थ खुल रहे हैं और अपने भीतर घटित हो रहे रूपान्तरण से आपको असीम आत्मतुष्टि का अनुभव हो रहा है ?"

अपने भीतर गोता लगाते हुए बापू बोले, " 'बापू' लिखते समय मैंने स्पष्टतः अनुभव किया कि किसी परम सत्य की उपलब्धि मुझे हो रही है। जिस दिन मैंने बापू की अन्तिम पंक्तियाँ लिखीं, उस दिन मैंने अपने भीतर सम्भवतः उस आनन्दमयी परितृप्ति की अनुभूति की जो बड़े से बड़े साहित्यकार को यदा-कदा ही उपलब्ध होती है। वैसी स्थिति मेरी कई दिन तक रही।

" 'नारी' लिखते समय मुझे दूसरा अनुभव हुआ। उसे प्रारम्भ करते समय मेरे सामने उसका रूप कुछ भी स्पष्ट नहीं था। उसकी एक बहुत दूर की झाँकी ही मुझे मिली थी। पर मैं उसे लिखता गया और उसके नये-नये रूप मेरे समक्ष स्पष्ट होते गए। अगले अनुच्छेद में मुझे कहाँ पहुँचना है, इसका पता भी प्रायः नहीं रहता था। पुस्तक का अन्तिम अंश लिख रहा था, पर तब तक भी उसका नाम मुझे नहीं सूझा था। अन्तिम वाक्य में अचानक आ गए 'नारी' शब्द ने ही मुझे यह नामकरण सुझाया। आप चाहें तो इसे मेरा बोधि-लाभ कह सकते हैं—जमुना का तो उसकी उपलब्धि हुई ही थी।" कहते समय उनकी आँखों में चमक आ गई थी और मुख पर शान्ति छा गई थी, मानो अतीत की अनुभूतियाँ उभर आई हों।

चर्चा को उपन्यासों की ओर मोड़ते हुए मैंने प्रश्न किया, " 'नारी' की चिरोपेक्षिता जमुना जब अजीत को आत्मसमर्पण करके हल्की होने की सोचती है तो लेखक उन दोनों के बीच आ जाता है, जबकि जमुना जिस जाति की स्त्री है उसमें पति के साथ न निभ सकने के कारण उसके जीवनकाल में ही दूसरा घर कर लेना वर्जित अथवा निन्दनीय नहीं समझा जाता और हम यह भी जानते हैं कि जमुना की यह माँग मांसल की अपेक्षा मानसिक अधिक है। कुछ लोगों को ऐसा लगता है कि लेखक यहाँ जमुना पर व्यक्तिगत संस्कारों का आरोप कर रहा है। इस विषय में आपकी क्या राय है ?"

बापू गम्भीर होते हुए बोले, 'जमुना ने जो कुछ किया उसके बीच में मैं आ कैसे सकता था ? उसमें जो 'मांसल' है, उसी को दबाने की मेरी प्रवृत्ति न थी। जहाँ वह सचेतन और सप्राण है, वहीं वह अपनी यथार्थ सत्ता में प्रकट होती है। अपने व्यक्तिगत संस्कार मैंने उसपर नहीं लादे। वह अपने संस्कार अपनी छोटी-सी जाति और अल्पकालिक जीवन में न जाने कहाँ से लाई है। हम जो जीवन जीते हैं, वह समूचा हमारा अपना ही है यह कैसे माना जा सकता है। हमारे अज्ञात में ही सीता, सावित्री, द्रौपदी और न जाने किन किन के स्वर हमारे कानों में पड़ते रहते हैं। वे स्वर दूर से, अतीत में से हम पा रहे हैं, केवल इसीलिए मैं उन्हें अनिष्टकर नहीं मान सकता। अतीत नहीं, मैं तो मानता हूँ अनागत भविष्य का कंठ भी उसके साथ मिला हुआ है।"

सियारामशरण जी के साहित्य में व्यक्त करुणा और आत्मपीड़न पर चर्चा चलाने के लिए मैंने पूछा, "कुछ लोगों को आपके साहित्य में आत्मपीड़न का स्वर अन्य सभी स्वरों से ऊँचा लगता है और वे बरबस पूछ बैठते हैं : आत्मपीड़न क्या परपीड़न का ही रूपान्तर नहीं है ?" प्रश्न बहुत तीखा था। प्रतिक्रिया भी वैसी ही हुई। वे बोले, "यह 'आत्मपीड़न' मुझे तो कल्पित और आरोपित जान पड़ता है। आत्मा को पीड़ा कहाँ ? आत्मानन्द की बात तो हम सुनते रहे है, पर आत्म-पीड़न की कल्पना उन लोगों ने की है जो वास्तव में आत्मा को ही नहीं मानते। उनका जीवन-दर्शन मेरे से भिन्न है।"

साहित्य के क्षेत्र में सियारामशरण जी ने बहुमुखी प्रतिभा का परिचय दिया है। काव्य, नाटक, उपन्यास, कहानी, निबन्ध आदि सभी विधाओं में उन्होंने समान अधिकार से लिखा है। पर वे मूलतः क्या है, यह जानने के लिए मैंने प्रश्न किया, "आपने साहित्य की सभी विधाओ मे लिखा है, और बहुत अच्छा लिखा है, फिर भी, कौन सी विधा आपको सर्वाधिक सहज और मनोनुकूल लगती है ?"

वे बोले, "मुझे कविता ही सर्वाधिक तृप्ति देती है। यह दूसरी बात है कि जिसे मैं कविता मानता हूँ, वह किसी दूसरे की दृष्टि मे कविता न हो। 'आज की कविता' ने अपने नामकरण के साथ ही उसे पुरातन और जीर्ण घोषित कर दिया है। परन्तु मैं अपने स्थान पर अपने को स्थिर और निरापद ही पाता हूँ। कविता के अतिरिक्त मैंने जो और कुछ लिखा है उसे आप औद्योगिक भाषा मे मेरे कार्य का उपजात (बाइप्रोडक्ट) कह सकते है। वह यदि कहीं अच्छा बन पड़ा है तो वहीं, जहाँ मेरी कविता किसी न किसी बहाने आकर मुझे थपथपा गई है।"

चर्चा में तो रस आ ही रहा था, पर चर्चा ज्यों ही जोर पकड़ती और बापू की साँस फूलने लगती, वे पास रखी दवाई की डिबिया को दियासलाई दिखा, नाक से धूनी लेने लगते। इससे साँस अनवरुद्ध चलने लगती और चर्चा आगे बढ़ लेती। इस बार, जो उन्होंने डिबिया उठाई, मुझे लगा कि मैं उनके साथ ज्यादती कर रहा हूँ। इसलिए, चर्चा को समेटते हुए मैंने आज की प्रमुख समस्या की ओर उनका ध्यान आकृष्ट करते हुए अंतिम प्रश्न किया, "आज का साहित्यकार जो किसी न किसी रूप में राज्याश्रय पाने की सोचने लगा है, आपके विचार में यह कहाँ तक साहित्य के हित मे है ?"

वे बोले, "राज्याश्रय ही क्या, किसी प्रकार का भी आश्रय—स्वाश्रय को छोड़कर—मैं साहित्यकार के लिए हानिकारक मानता हूँ। नये-नये रूपों में साहित्यकार जो अपने 'ट्रेड यूनियन' बना रहा है, उन्हें भी मैं पसन्द नहीं करता। साहित्यकार जब अपनी रक्षा के लिए गुहार करने लगता है तो उससे बढ़कर अशोभन और कुछ नहीं होता।"

१-७-१९६२]

०

श्री सुदर्शन

लेखक का काम देना है, लेना नहीं

ज़िन्दगी ज़िन्दादिली का नाम है और ज़िन्दादिली का उम्र से कोई सम्बन्ध नहीं, इस बात को बड़ी खूबी से सार्थक किया है प्रेमचन्दयुग के प्रसिद्ध कहानीकार सुदर्शनजी ने जो सत्तर वर्ष की अवस्था में भी चुस्ती और ताज़गी में युवकों को मात देते थे। यही नहीं, उनके सम्पर्क में आते ही दूसरों पर से उम्र का बोझ हल्का हो जाता और वह बुज़ुर्गी भूलने लगते। दिल्ली में हुई एक गोष्ठी में सुदर्शनजी का आत्मविस्मृतिकारी भाषण सुनने के बाद कविवर बच्चन को भी अपने अध्यक्षीय वक्तव्य में यह तथ्य स्वीकार करना पड़ा। उन्होंने कहा, "मैं साठ के निकट पहुँच रहा हूँ। पर सुदर्शनजी के व्यक्तित्व और वाणी में इतनी ताज़गी है कि मैं भी मन्त्र-मुग्ध होकर बालसुलभ उत्सुकता के साथ इनका भाषण सुनता रहा हूँ।"

साठ से अधिक कहानी, नाटक और उपन्यास की पुस्तकें लिख चुकने के बावजूद देखने में सुदर्शनजी साहित्यकार कतई नहीं लगते थे—सफेद बुर्राक कमीज़ पर कसी चुस्त पैंट और पाँव में तीखी नोक वाला चमचमाता जूता पहने वे प्रेमचन्दयुग को बहुत पीछे छोड़, अपनी ख्याति के प्रति तनिक भी सचेत हुए बिना, आधुनिकों के झुंड में बड़ी आसानी से खो सकते थे। धन और मान दोनों ही प्रचुर मात्रा में कमा चुकने पर भी वे बेहद मिलनसार और विनोदी प्रकृति के थे। सुदर्शनजी का जन्म विभाजनपूर्व पंजाब के सियालकोट नगर में हुआ था। स्वामी रामतीर्थ का जन्म भी वहीं हुआ था। इसलिए जन्म-स्थान की बात छिड़ते ही वे बड़े गर्व से कहते, "सियालकोट ने तीन महान हस्तियाँ पैदा की हैं—पहली बाल-शहीद हकीकत राय, दूसरी स्वामी रामतीर्थ, तीसरी डाक्टर इक़बाल।" और फिर थोड़ा रुककर शरारत भरी मुस्कान से जोड़ देते, "और चौथी हस्ती है सुदर्शन।" यह कहते हुए उनकी आँखों के सामने वह दृश्य ज्यों-का-त्यों नाच उठता जब स्वामी रामतीर्थ ने उन्हें गोद में उठाकर बड़े प्यार से दूध पिलाया था।

लगभग डेढ़ वर्ष पहले जब सुदर्शनजी दिल्ली आए तो साहित्य जगत् में धूम मच गई, विशेषतः उनके आकर्षक व्यक्तित्व और प्रभावशाली वक्तृता के कारण। मैं उन्हीं दिनों उनके सम्पर्क में आया और उनसे एक विशद भेंट-वार्ता भी हुई। चर्चा का आरम्भ करते हुए मैंने पूछा, "आपके ज़माने में तो पढ़े-लिखे समझदार

लोग समाज-सुधार, राजनीति, पत्रकारिता आदि की ओर झुकते थे। आप कैसे इन प्रलोभनों से बचकर लेखक बन गए?"

अपने भीतर टटोलते हुए-से सुदर्शनजी बोले, "जब मैं छोटा था उसी जमाने में मुझे कहानियाँ पढ़ने का बहुत शौक था। सबसे पहले मैंने अलफलैला पढ़ी। उसके बाद हातिमताई के और फिर दूसरे किस्से पढ़े। वे किस्से-कहानियाँ और उनकी घटनाएँ मेरे दिलो-दिमाग पर कुछ इस तरह छा गईं कि मुझे हर वक्त उन्हीं की चीजें दिखाई देने लगीं। यह ठीक है कि उस जमाने में सुधार का बहुत जोर था। सुधार के सामने लोग झुकते थे और सुधार की बातें सुनते थे। मुझे भी लेक्चर सुनने की शुरू से आदत रही है। मैं लेक्चर में जाता था और उसे सुनता था। सुनने के बाद उस पर ग़ौर करता था। जब मैंने लिखना शुरू किया उस जमाने में एक स्वामीजी थे—स्वामी सत्यानन्द। उन्होंने मुझसे कहा, 'सुदर्शन, लिखते हो तो लिखो, लेकिन लिखते समय यह सोच लिया करो कि उससे पढ़ने वाले का कुछ भला भी होगा या सिर्फ नाटक की तरह वक्त ही बरबाद होगा।' उस समय नाटक बड़े बेहूदा हुआ करते थे। उनकी बात मेरे दिल में बैठ गई और मैंने इसे अपने सीने पर लिख लिया कि मैं वह चीज लिखूंगा जिससे किसीका भला हो। और मैंने देश और समाज के लिए लिखना शुरू कर दिया।"

मेरा अगला प्रश्न था: "प्रेमचन्द ने, और आपने भी, पहले उर्दू में लिखना शुरू किया और बाद में हिन्दी में आ गए। उर्दू से हिन्दी में आने का मुख्य कारण क्या था?" वे बोले, "प्रेमचन्द के बारे मे तो मैं कुछ नहीं कह सकता कि उन्होंने हिन्दी में क्यों लिखना शुरू किया। हां, अपने बारे में कह सकता हूँ कि मेरी पहली जबान तो उर्दू ही थी। उर्दू ही उन दिनों पंजाब में चलती थी। मैं भी उसमें लिखता था; उसमें ही सब कुछ कहता था। जब मेरे विवाह की बात हुई तो मुझे पता चला कि मेरी पत्नी ने अपने पिता से कहकर उर्दू सीखना शुरू कर दिया है। मेरे ससुर ने मुझे जब यह बात बताई तो वे थोड़ा मुस्करा दिए। मैं समझ गया कि मेरे काम में मदद देने की इच्छा से ही मेरी धर्मपत्नी ने उर्दू सीखना शुरू किया है। मैंने सोचा अगर उसने मेरी खातिर उर्दू सीखना शुरू कर दिया है तो वह महाविद्यालय जालन्धर में पढ़ी है, हिन्दी जानती है। मुझे भी तो साथ देना चाहिए। मैंने भी हिन्दी में लिखना शुरू किया। फिर, मैं हिन्दी में लिखकर मसौदा उन्हें दे देता था और वे उसमें अ, ई, उ की गलतियाँ ठीक कर देती थीं। और इस प्रकार हिन्दी में कहानी छप जाती थी। इसी तरह मैं धीरे-धीरे हिन्दी में आ गया।"

सुदर्शनजी के आरम्भिक लेखन के बारे में जानकारी प्राप्त करने की इच्छा से मैंने पूछा, "सुना है, आप बचपन से ही कहानियाँ लिखने लग गए थे। कृपया बताएँ, आपके लेखन की शुरुआत कैसे हुई और किस प्रकार लिखने में आपकी रुचि बढ़ती गई?" मेरा प्रश्न सुनकर वे सहसा मौन हो, अपने में खो गए। उनके

चेहरे के बदलते भाव को देखकर स्पष्ट लग रहा था कि लगभग साठ वर्ष पहले का युग उनके स्मृतिपट पर चलचित्र की तरह उभर आया है। थोड़ी ही देर में उनके होंठ फड़के और वे कहने लगे, 'मैं छठी क्लास में पढ़ता था। उस ज़माने में लाहौर से एक उर्दू मासिक निकलता था जिसका नाम था 'मार्तण्ड'। उसको निकालने वाले थे बाबू शिवव्रतलाल वर्मन। वह राधास्वामी मत का कुछ प्रचार किया करते थे। उनका पर्चा देखकर मेरे मन में ख्याल पैदा हुआ कि मैं भी कुछ लिखूँ। उस वक्त मेरे मिलने वाले एक आदमी ने कहा कि आजकल के ज़माने में मशहूर होने का तरीका यह है कि आदमी के मुँह पर, शरीर पर, प्रेस की स्याही खूब मली जाए। जितनी स्याही मली जाएगी, उतना ही वह मशहूर होता चला जाएगा।

"मैंने सोचा कि मैं भी लिखना शुरू करूँ। चुनांचे मैंने कुछ लतीफे जमा किए और उनका शीर्षक रख दिया 'केसर की क्यारी'। लतीफे मारे इधर उधर के सुने-सुनाए थे। उनमें अपना कुछ भी नहीं था। अपना कुछ था तो केवल 'केसर की क्यारी'। मुझे किसी ने बता दिया था कि केसर की क्यारी में से कोई गुज़रे तो हँसता-हँसता दोहरा हो जाता है। इसलिए मैंने इसका नाम 'केसर की क्यारी' रखा। उसके बाद तो यह नाम खूब चला। खैर, लतीफे छपकर आ गए। उस समय आर्यसमाज में एक सज्जन काम करते थे, जिनका नाम था लाला गनपतराय, वकीलनवीस। मैं उनके पास पहुँचा और उन्हें लतीफे दिखाए। उन्होंने लतीफे देखे और कहने लगे, 'अरे भाई, इसमें तुम्हारा क्या है? एक लतीफा मुझसे सुना, एक उससे सुना, एक माँ से सुना और एक बाप से सुना—उन्हें जमा करके लिख दिया। इसमें क्या बात हुई? अपनी चीज़ कोई हो तो लिखो।' मैंने कहा, 'ठीक है।' भागा भागा घर चला आया, बैठ गया और सोचता रहा। मुझे ठीक याद तो नहीं, पर मेरा ख्याल है कि मैं शायद एक दिन स्कूल भी नहीं गया और सोचता रहा कि क्या लिखूँ जिसको पढ़कर लाला गनपतराय मान जाएँ कि यह मेरी चीज़ है।

"मुझे एक रास्ता मिल गया। मैंने लेक्चरों में सुने हुए वाकयात जमा करने शुरू कर दिए। कोई बुद्ध का वाकया, कोई रामचन्द्र का वाकया तो कोई भीष्म-पितामह का वाकया। सब किस्से जमा कर दिए और नाम रख दिया, "चन्द दिल-चस्प किस्से और उनसे मुफीद सबक।" आज भी मुझे याद आता है कि मैंने 'मुफीद सबक' लिखा था, हालांकि सबक हमेशा ही मुफीद होता है। खैर, वह छप गया 'मार्तण्ड' में और मैं उसे लेकर लाला गनपतराय के पास पहुँचा। उन्होंने देखा और बोले, 'अरे भाई, वे लतीफे जमा किए थे, ये सुनी-सुनाई कहानियाँ जमा कर ली हैं। इनमें तुम्हारी कौन-सी कहानी है। महात्मा बुद्ध की कहानी तुम्हारी है? रामचन्द्र की कहानी तुम्हारी है?' मैं चुप रह गया और सिर लटकाकर चुपके से वापस चला आया।

"दो तीन दिन तक मैं सोचता रहा और सोच-सोचकर एक मजमून लिख डाला, जिसका शीर्षक था 'कुछ कर लो'। उसके ऊपर मैंने मौलाना हाली का एक शेर लिख दिया। शेर यह था—

कुछ कर लो नौजवानो, उठती जवानियाँ हैं।
अब बह रही है गंगा, खेतों को दे लो पानी॥

हर एक पैरा दस-पन्द्रह पंक्तियों का था और उसके आखिर में होता था 'कुछ कर लो'। आज तुम जवान हो। आज तुम्हारे हाथों में ताकत है। आज तुम्हारे पाँवों में ताकत है। चन्द दिनों के बाद बीमार पड़ जाओगे, कमजोर हो जाओगे। तुम्हारे हाथों से वक्त निकल जाएगा। आज तुम्हारे पास पैसा है, किसी को दे सकते हो। चन्द दिन के बाद हो सकता है कि तुम्हारा दिवाला निकल जाए, तुम्हारी जेब में पैसा न रहे। कौड़ी-कौड़ी के लिए दूसरों के आगे हाथ फैलाना पड़े। इसलिए वह वक्त आने से पहले कुछ कर लो। उस वक्त रावलपिंडी से एक अखबार निकलता था—'शान्ति'। उसमें यह मजमून छपा। 'इंटर्वल' में छुट्टी होती थी। मैं गया, बाज़ार से पर्चा खरीदा। दो पैसे में यह पर्चा मिलता था। मैंने देखा, मेरा मजमून छपा हुआ है।

"मैं जल्दी जल्दी स्कूल पहुँचा। लेकिन जब मैं कमरे में घुसा तो देखा कि क्लास लग चुकी है और हैडमास्टर साहब लड़कों को कुछ पढ़कर सुना रहे हैं। मैंने सोचा कि मैं खलल न डालूँ। इसलिए मैं पीछे ही बैठ गया। पर मैंने सुना कि वह तो मेरा मजमून ही पढ़कर सुना रहे हैं और उनकी आँखों में आँसू हैं। जब मजमून खत्म हुआ, लड़कों ने ताली बजाई। हैडमास्टर साहब ने मुझे कहा, 'आगे आओ।' मैं आगे बढ़ा तो उन्होंने लड़कों से पूछा, 'तुम जानते हो, यह मजमून किसका लिखा हुआ है?' उन्होंने मेरा मुँह पकड़कर लड़कों की तरफ घुमा दिया और कहा, 'इसने लिखा है।' और मुझे कहा, 'तुम कोशिश करते रहो, मुमकिन है, किसी दिन अच्छे लेखक बन जाओ।' मैं बहुत खुश हुआ और इन्तजार करने लगा कि कब छुट्टी की घंटी बजे और मैं लाला गनपतराय के पास पहुँचूँ।

"जब छुट्टी हुई मैं भागा-भागा गया गनपतरायजी के पास। वे अभी दफ्तर से नहीं आए थे। मैं उसके दरवाजे पर बैठकर इन्तजार करने लगा। वे आए तो मैंने चार कदम आगे बढ़कर कहा, 'लालाजी, यह देखिए, मेरा मजमून छपा है।' उन्होंने कहा, 'जा जा, देख लूंगा, मुझे साँस तो लेने दे।' मैं पीछे-पीछे चला गया। वे ऊपर चढ़ गए। वे एक तरफ बैठ गए और मैं दूसरी तरफ। पुरानी प्रथा थी। उनकी बीवी पानी लाई, कपड़ा लाई। उन्होंने हाथ-मुँह धोया। सिर पर हाथ फेरा। उनकी बीवी दूध का गिलास लाई। उन्होंने दूध पी लिया। मूंछों पर हाथ फेरा, कपड़े से मुँह पोंछा, फिर बोले, "ला क्या लिखा है।" मैंने मजमून आगे कर दिया। उन्होंने पढ़ा और पढ़ते-पढ़ते उनकी आँखों से भी आँसू बहने लगे। मैं

देख रहा था और हैरान हो रहा था—हैं, गनपतराय की आँखों में आँसू ? वे फड़क उठे। मेरी पीठ पर थपकी दी और बोले, 'भाई कमाल है, आज मैंने मान लिया कि तुम लेखक बन गए। इसी तरह लिखा करो तो अच्छे लेखक बन जाओगे।'

"मैं भागने लगा। घरवालों को भी तो दिखाना था, दोस्तों को भी तो बताना था। पर उन्होंने पकड़कर कहा, 'बैठ जाओ।' अपनी बीवी को आवाज़ दी कि दूध का गिलास लाए। गिलास आया, उसमें खूब मलाई थी। मैंने पी लिया। वह पहली उजरत थी जो मुझे मिली। इस तरह मेरा लिखना शुरू हो गया।"

चर्चा को कहानी कला की ओर मोड़ते हुए मैंने पूछा, "आपने बढ़िया से बढ़िया कहानियाँ लिखी हैं और खूब लिखी हैं। आपके विचार में सफल कहानी का सबसे बड़ा गुण क्या होना चाहिए ?" सुदर्शनजी का उत्तर दो टूक था, "सफल कहानी का सबसे बड़ा गुण, या कह लें सबसे छोटा गुण, तो भी चलेगा, यह है कि वह कहानी हो। यानी कहानी पढ़ने वाले ऊब न जाएँ। कहानी पढ़ने वाले की दिलचस्पी अन्त तक बनी रहे। एक तो यह, और दूसरी बात यह कि कहानी को पढ़ने के बाद पाठक को मालूम हो कि वह कुछ ऊँचा उठा है। यदि कहानी पढ़ने के बाद उसे ऐसा महसूस नहीं होता तो मैं समझता हूँ कि कहानी लिखना बेकार गया।"

उन्हें आज के कहानीकार की धारणा से अवगत कराते हुए मैंने कहा, 'तो आप यह मानते हैं कि कहानी पढ़कर पाठक को उसमें से कुछ मिले यानी अपनी कहानी में कहानीकार पाठक को कुछ दे जरूर। लेकिन आजकल कोई कहानीकार अपनी कहानी में कुछ देने की कोशिश करे कुछ सिखाने की चेष्टा करे तो लोग उसे पिछड़ा हुआ लेखक मानते हैं। इस बारे में आपकी राय जानना चाहूँगा।'
उत्तर में सुदर्शनजी ने थोड़ा चमत्कृत होकर मुझसे ही पूछ लिया, "तो क्या कहानी ऐसी होनी चाहिए कि जिसमें कहानीकार कुछ दे न, पर पाठक का समय ले ले ? समय जो किसी और काम आ सकता था, जिससे कुछ भला हो सकता था वह तो उससे न लिया, पर दिया कुछ नहीं। मैं तो समझता हूँ, लेखक का काम देना है, लेना नहीं, बस।"

सुदर्शनजी की कहानी 'हार की जीत' के विषय में मैंने जिज्ञासा की "जितनी विख्यात आपकी कहानी 'हार की जीत' हुई है उतनी शायद ही कोई अन्य कहानी हुई हो। क्या आप भी उसे अपनी सर्वश्रेष्ठ कहानी मानते हैं ?" वे बोले, "यदि आपका मतलब बढ़िया कहानी से यह है कि वह बहुत ज्यादा बिके, बहुत ज्यादा पढ़ी जाए तो यह ठीक है कि इस कहानी ने मुझे पैसा बहुत ही दिया। मुझे याद है कि जब मैं लाहौर में था, तब मैंने यह कहानी लिखी थी। तब इसका नाम था 'बाबा भारती का घोड़ा'। उसे मैंने 'मिलाप' अखबार के सम्पादक लाला खुशहालचन्द 'खुरसन्द' को, जो अब महात्मा आनन्द स्वामी हैं, भेज दी। उन्होंने कहानी

छाप दी। कहानी छपने के तीन-चार दिन बाद जब मैं उन्हें मिलने गया तो उन्होंने पाँच रुपये का एक नोट मेरी जेब में डाल दिया। मैंने उनके सामने नोट निकाल कर देखा और कहा, 'बस, इतना ही!' वे बोले, 'अरे सुदर्शन, मैंने तुम्हें सबसे ज्यादा उजरत दी है। डेढ़ कालम की कहानी और पाँच रुपये। ढाई कालम होता तो भी कुछ बात थी।' उसके बाद वह पाठ्य क्रम में आ गई 'हार की जीत' के नाम से। कुछ दिन हुए मैंने हिसाब लगाकर देखा कि उससे मुझे कुल मिलाकर ज्यादह नहीं तो कम से कम साढ़े बारह हजार रुपये मिले हैं। जो उसे लेना चाहता है, जो मुझसे कहानी छापने की आज्ञा माँगता है, मैं उससे एक सौ पच्चीस रुपये माँगता हूँ। मुझे एक सौ पच्चीस रुपये मिल जाते हैं और उसका काम चल जाता है।

"इस कहानी ने मुझे पैसा तो खूब दिया है। पर मैं मानता हूँ कि यह मेरी सर्वश्रेष्ठ कहानी नहीं है। सर्वश्रेष्ठ कहानी का अगर यह मतलब है कि पाठक को अपने में उलझा ले, उसके दिमाग पर कब्जा कर ले, उसे सोचने पर मजबूर कर दे, पाठक अपने अन्दर घुलता रहे और सोचता रहे कि उसने ऐसा क्यों कर दिया, वैसा क्यों कर दिया, तब तो यह सफल कहानी नहीं है। पर एक बात है कि इस कहानी को पढ़ने के बाद शिक्षा जरूर मिलती है और वह यह कि अगर कोई वैसा काम करे जैसा कि डाकू खड़कसिंह ने किया था तो फिर गरीब पर कोई विश्वास नहीं करेगा। उससे यही शिक्षा आजकल भी ली जाती है। जो लोग उसे लेते हैं, वे इसीलिए लेते हैं।"

चर्चा को आगे बढ़ाते हुए मैंने कहा, "आपके उत्तर से लगता है कि 'हार की जीत' के अलावा आपकी और भी कई कहानियाँ हैं जो आपको बहुत प्यारी हैं और जिन्हें आप बढ़िया मानते हैं। उनमें सबसे बढ़िया आप किसे मानते हैं?" सुदर्शन जी का उत्तर बड़ा प्यारा था : "कहानियाँ लेकर कोई मुझसे यह सवाल करे कि मेरी कौन सी कहानी सबसे अच्छी है, सबसे प्यारी है तो मुझे लगता है कि मुझसे यह पूछा जा रहा है कि तुम्हारी कौन सी उँगली सबसे अच्छी है; तुम्हें अपना कौन-सा बेटा सबसे प्यारा है। बेटे सब प्यारे होते हैं और किसी भी उँगली में कुछ चुभे तो दर्द जरूर होता है। लेकिन अब आपने पूछा है तो मैं सोचता हूँ कि मैं कौन-सी कहानी आपके सामने यह कहकर रखूँ कि वह मेरी सबसे अच्छी कहानी है।

"हाँ, एकाएक मुझे खयाल आया है, मेरी एक कहानी है 'तीर्थयात्रा'। वह मुझे काफी अच्छी लगती है। एक और मेरी किताब है 'झरोखे' जो खलील जिब्रान के रंग में रंगी हुई है। उसमें छोटी-छोटी कहानियाँ हैं। इसमें एक वाक्य बयान कर दिया जाता है, कहा कुछ नहीं जाता, छोड़ दिया जाता है। पर भाषा उसकी अरबी 'स्टाइल' पर है, वे कहानियाँ मुझे बहुत पसन्द हैं। आपके सवाल का मैंने बड़े अजीब ढंग से उत्तर दिया है। आपने सबसे अच्छी कहानी पूछी है और मैं अच्छी कहानियाँ बता रहा हूँ। मैंने एक और पुस्तक लिखी है 'मीठा पेड़ और

कड़वा फल' वह नावल भी है और कहानी भी। मैं समझता हूँ कि आज तक मैंने जो कहानियाँ लिखी हैं उनमें शायद वह सबसे अच्छी है। वैसे, मेरी सबसे अच्छी कहानी अभी लिखी जाने वाली है।"

सुदर्शनजी की बीसियों कहानियाँ निकली हैं, पर उनका उपन्यास मेरे देखने में एक ही आया है—'प्रेम पुजारिन'। इसलिए मैंने कहा, "आपने कहानियाँ तो खूब लिखी हैं और बढ़िया लिखी हैं, पर उपन्यास आपका केवल एक है—'प्रेम पुजारिन'। कृपया बताएँ, आपने यह उपन्यास कब लिखा और इसके बाद आप उपन्यास लिखने में क्या प्रवृत्त नहीं हुए।" कहानी-लेखन की ओर अपने अधिक झुकने का कारण बताते हुए वे बोले, "उस समय मैंने सोचा था कि लोगों के पास ज्यादह समय नहीं है। एक उपन्यास पढ़ने के लिए कई दिन चाहिए। मैंने सोचा, ऐसी चीज़ लिखूं जो घटे, आध घंटे में पढ़ी जा सके और उसका मतलब पूरा हो। जब मैं स्वयं उपन्यास पढ़ता था तो मुझे लगता था कि जब तक वह पूरा न हो जाए, मैं खाना न खाऊँ, कुछ और काम न करूँ। औरों के साथ भी ऐसा होता होगा। इसलिए मैंने लोगों का समय बचाने के लिए कहानियाँ लिखीं।

"पर यह कहना गलत है कि मैंने एक ही उपन्यास लिखा है। मैंने अभी आपको बताया है कि मैंने एक उपन्यास लिखा है 'मीठा पेड़ कड़वा फल'। एक और उपन्यास लिखा है—'परिवर्तन'। और भी लिखे हैं—पर वे सब लम्बी कहानी का रूप धारण कर जाते हैं। हाँ, सन् १९३१ में मैंने एक और उपन्यास लिखना शुरू किया था—उसका नाम था 'गुलाम'। वह वहाँ से शुरू किया था जब जवाहरलाल नेहरू रावी के किनारे आते हैं और ऐलान करते हैं कि पूर्ण स्वतन्त्रता हमारा ध्येय है। उसके अस्सी पृष्ठ मेरे पास लिखे पड़े हैं। पर उसके बाद कुछ ऐसे हालात हो गए कि मैं उस फिर पकड़ न सका। अब जब कई चीज़ें दिमाग में उभर रही हैं कि कुछ लिखूं या पुरानी चीज़ें पड़ी हैं, उनको भी पूरा करूँ, तो अब लगता है गुलाम को भी पूरा कर दूंगा।"

उपन्यास सम्राट् प्रेमचन्द से सुदर्शनजी का बड़ा निकट का सम्बन्ध रहा है, यह जानकर मैंने जिज्ञासा व्यक्त की "प्रेमचन्दजी से आपकी घनिष्ठता रही है। कृपया बताएँ आप पहले-पहल कब उनके सम्पर्क में आए और वह घनिष्ठता कैसे बढ़ी ?"

प्रश्न का स्वागत करते हुए सुदर्शनजी बोले, "सन् १९१५ या १६ की बात है। मैं लाइब्रेरी जाया करता था और वहाँ अखबार पढ़ा करता था। वहाँ एक पर्चा आता था जिसका नाम था 'ज़माना'। वह कानपुर से निकलता था। मुंशी दयानारायण निगम उसके सम्पादक थे। उसमें एक कहानी छपी—'विक्रमादित्य का तेग़ा।' वह कहानी प्रेमचन्द की थी। उसे पढ़कर मुझपर इतना असर हुआ कि मैं मन ही मन उनका शिष्य बन गया। उसके बाद मैंने एक कहानी लिखी। वह

कहानी 'जमाना' में छप गई। उसे पढ़कर प्रेमचन्दजी ने जमाना के मार्फत मुझे चिट्ठी लिखी। उसमें उन्होंने लिखा—'भाई, सुदर्शन, तुम्हारी कहानी मैंने पढ़ी है। उसे पढ़कर मुझे शुबह हुआ है कि यह कहानी मैंने लिखी है। सारा का सारा 'स्टाइल', सारा रंग मेरा है। मुझे समझ में नहीं आता कि आपने यह कहानी कैसे लिखी। बहरहाल, मैं आपको मुबारकबाद देता हूँ।'

"इसके बाद उनसे खतोकिताबत शुरू हो गई। मैं लिखता, वे तारीफ करते। मैंने पर्चा निकाला उन्होंने मेरी मदद की। उसके बाद सन् १९२५ में मैं बनारस गया और सोचा कि प्रेमचन्दजी से मिलना चाहिए। मै उनके गाँव गया तो वहाँ पता चला कि वे बनारस गए हुए हैं। मैंने किसी से कागज-पैंसिल ली और एक चिट्ठी लिखकर छोड़ आया—चिट्ठी क्या, बस एक शेर था—

नसीब हो न सकी, दौलते कदम बोसी,
अदब से चूम कर हजरत का आस्ताना चले।

'अपना नाम लिखा और उस होटल का पता लिख दिया जहाँ मैं ठहरा हुआ था। दूसरे दिन प्रेमचन्दजी आए। मैं गंगा पर नहाने गया था। वे आए और मेरे दरवाजे पर बैठ गए। जब मैं नहाकर लौटा तो मैंने उनसे कहा, 'एक तरफ हट जाइए।' वे हट गए। मैं दरवाजा खोलकर अन्दर चला गया। मैंने कहा, 'अन्दर आ जाइए।' वे अन्दर आ गए। उन्होंने नहीं बताया कि वे प्रेमचन्द हैं। मैंने पूछा, 'आपका शुभ नाम?' उन्होंने कहा, 'मुझे धनपतराय कहते हैं।' मैंने कहा, 'यानी?' वे कहने लगे—'यानी प्रेमचन्द।' मैं एकदम उनके पाँव छूने को हुआ। उन्होंने बीच में ही पकड़ लिया। फिर खूब बातचीत हुई। सुबह के आए थे, रात हो आई। खाना भी वहीं खाया।

"एक बार ऐसा हुआ कि प्रेमचन्द लाहौर में आए हुए थे। और वहाँ 'हजारा' होटल में ठहरे हुए थे। वे उसे हजारा होटल न कहकर 'लाखा' होटल कहा करते थे। कहते थे, 'कोई सुनेगा तो क्या कहेगा—प्रेमचन्द बस हजारा होटल में ठहरे है। इसलिए भाई हजारा नहीं, लाखा होटल कहो।' उसी जमाने में वे एक दिन मेरे मकान में बैठे थे। शाम का वक्त था। मैंने उन्हें बताया—'गांधीजी ने कहा है कि सुराज के बाद किसी की तनख्वाह ५०० रुपये से ज्यादह नहीं होगी। भला सोचिए, ५०० रुपये में कौन मिनिस्टर बनना चाहेगा।' प्रेमचन्द हँसे और कहने लगे, 'अरे भाई, यह भी कोई सोचने की बात है। दो तो हैं ही—एक तुम और दूसरा मैं। मेरे और तुम्हारे सिवा और कौन इस मैदान में उतरेगा?' उसके बाद खूब ठहाके लगे।

"एक घटना मुझे और याद आ गई प्रेमचन्दजी के बारे में। एक दिन एक साहब हमारे यहाँ चाय पर आए कानपुर में। वे शायर थे। हम कमरे में बैठे थे। बाहर अंधेरा था। अंधेरे में मेरी पत्नी बैठी थी। उसके हाथ में एक छड़ी थी।

कुछ काम तो उस समय उसे था नहीं। छड़ी से ज़मीन कुरेद रही थी। अन्दर हमारी बात-चीत होने लगी। इतने में उस शायर ने एक वाक्य कह दिया स्वामी दयानन्द की शान के खिलाफ़—'दयानन्द में तो इतना ज्ञान भी नहीं था जितना मेरे टूटे हुए जूते के टूटे हुए तलुए में।' मैंने टालने की कोशिश की, पर वे उस वाक्य को दुहराते ही गए। यह सुनकर मेरी धर्मपत्नी को गुस्सा आ गया। वह छड़ी लेकर कमरे में आ गई और उस पर गर्जती हुई गुस्से में बोली, 'उठ, चल, निकल यहाँ से। नहीं तो अभी मरम्मत कर दूँगी। हमारे मकान में आकर, हमारी छत के नीचे बैठकर, हमारी चाय पीकर, तू ऐसी बेजा बात करता है। शर्म कर।' वे शायर साहब चौंक उठे, बहुत शर्मिन्दा हुए और कहने लगे, 'मुझे माफ़ करें। गलती हो गई। मुझे पता नहीं था कि आप सुन रही हैं।' मेरे कहने पर मेरी पत्नी बाहर चली गई। मैंने कहा, 'आपने भी गजब कर दिया।' उन्होंने कहा, 'मुझे पता ही कब था कि कोई सुन रहा है, मैं तो मज़ाक कर रहा था। मैं सीरियस ही कब होता हूँ?' बाद में उन्होंने खुद ही आवाज़ दी—'भाभीजी, पान मँगवाइएगा। मैं पान खाकर जाऊँगा।' पान आ गया। पान खाकर वे बाहर चल दिए। मैं भी उन्हें छोड़ने साथ गया। मैंने कहा, 'भाई, आज जो कुछ हुआ है, उसके लिए मैं माफ़ी माँगता हूँ। अजीब वाकया हो गया।' उन्होंने कहा, 'इसमें क्या बात है, भाई? मेरी बड़ी बहन भी तो जब मैं कोई बेहूदा बात करता हूँ, मेरे कान ऐंठ देती है। यह भी तो मेरी बड़ी बहन के बराबर है।'

'दूसरे-तीसरे दिन यह बात मुंशी दयानारायण निगम ने सुन ली। उसके एक दिन बाद ही प्रेमचन्द वहाँ आ गए। और उन्होंने भी यह बात सुनी। वे हमारे यहाँ चाय पर आए। उधर से वे शायर साहब भी आ गए। बातचीत शुरू हुई। जो बात मेरी पत्नी कहे शायर साहब उसकी हाँ में हाँ मिलाएँ। वह गलत बात कहे तो उसका भी समर्थन कर दें। एक तरफ़ मैं और प्रेमचन्द थे और दूसरी तरफ़ मेरी धर्मपत्नी और वे शायर साहब। एक बार मैंने प्रेमचन्द की तरफ़ देखकर इशारा किया। वे ठहाका मार कर कर हँस पड़े। मैंने पूछा, 'हँसते क्यों हैं?' उन्होंने कहा, 'भाई, हँसता इसलिए हूँ कि जिस घटना की वजह से ये हिमायत कर रहे हैं, वह मैंने सुन ली है।' उसके बाद शायर साहब बहुत शर्मिन्दा हो गए और बात आई गई हो गई। इस प्रकार प्रेमचन्दजी के साथ घनिष्ठता बढ़ती गई। जब भी मिलते रात रात भर बातें होतीं।" जब सुदर्शनजी अपने कर्ज़ोमित्र का यह किस्सा मुझे सुना रहे थे, श्रीमती सुदर्शन पास बैठी मुस्करा रही थीं। सुदर्शन जी ने बात समाप्त की तो वे बोलीं, 'अब तो यह पुरानी बात सुनकर हँसी आती है, पर उस समय मेरा खून खौल रहा था। इतने में वे मित्र क्षमा न माँगते तो न जाने उस दिन मैं क्या कर बैठती।"

सुदर्शनजी फ़िल्मी दुनिया में भी रहे थे। उनके वहाँ के अनुभव जानने की

इच्छा से मैंने पूछा, "आपने अपना नाटक 'सिकन्दर' प्रसिद्ध फिल्म निर्माता और निर्देशक सोहराब मोदी को समर्पित किया है। इससे लगता है कि फिल्म-जगत् से आपकी खूब पटती थी, जबकि फिल्म-जगत् हिन्दी के अधिकांश लेखकों को रास नहीं आया और वे शीघ्र ही उससे पिंड छुड़ाकर साहित्य-जगत् में लौट आए। प्रेमचन्द का उदाहरण हमारे सामने है। फिल्मी दुनियाँ के अपने खट्टे-मीठे अनुभवों के आधार पर बताने की कृपा करें कि आपकी उन लोगों से कैसे निभ जाती थी।"

अपने अनुभव बताते हुए सुदर्शनजी बोले, "फिल्मी नाटक के लिए इस बात की बहुत जरूरत होती है कि डायरेक्टरों और प्रोड्यूसरों की बात सुनी जाए। लेखक के पास ऐसी आँख होनी चाहिए कि वह जो कुछ लिखे उसे पर्दे पर उतारा जा सके। मेरे ख्याल में प्रेमचन्दजी बहुत अच्छे फिल्मकार बन सकते थे यदि वे प्रोड्यूसरों और डायरेक्टरों की बात सुनते। लेकिन उन्होंने प्रोड्यूसरों की बात सुनी और टाल दी। नतीजा यह हुआ कि उन लोगों को लगा यह आदमी हमारा हाथ नहीं बँटा सकता है। मेरे साथ कई बार ऐसा हुआ कि मेरे पास पचास-पचास पृष्ठ लिखे हुए हैं। प्रोड्यूसरों और डायरेक्टरों ने कहा, 'भाई, यह नहीं चलेगा, कुछ और लिखो।' मैं उन्हें बिना पूछे कि क्या करूँ या क्यों न करूँ, लौट आया और खुद सोचकर उसे फिर से लिख दिया। लेकिन मैंने उनका सुझाव कि यह करो या यह न करो, कभी नहीं माना। सुझाव हमेशा मेरा अपना ही होता था। उन्हें लगता था कि यह आदमी हमारी मदद कर सकता है। दूसरे, उस वक्त या आज से दस साल पहले की फिल्में 'डायलॉग' पर बहुत निर्भर करती थीं। मेरे डायलाग जो मैंने 'सिकन्दर', 'भाग्यचक्र' और दूसरी फिल्मों के लिए लिखे पर्दे पर खूब उतरते थे। और मुझे आदमी वे मिल गए जो उन्हें उभार देते थे। इसलिए वे चीजें चल निकलीं।"

आज की कहानी के बारे में सुदर्शनजी की प्रतिक्रिया जानने की दृष्टि से मैंने पूछा, "आज का पाठक आपकी कहानियाँ पढ़ता है तो आप भी आज की कहानियाँ पढ़ते होंगे—बहुत नहीं तो थोड़ी ही सही। उन्हें पढ़कर आपकी क्या प्रतिक्रिया होती है? उस प्रतिक्रिया के आधार पर आप आज के कहानीकार को क्या सन्देश देना चाहेंगे?" वे होंठों पर शरारत-भरी मुस्कान लिए बोले, "मैं अब भी कहानियाँ पढ़ता हूँ; पर पढ़ता हूँ कभी-कभी। बस, यह जानने के लिए कि कलम की दुनिया किधर जा रही है। लेकिन कुछ कहानियाँ पढ़ने के बाद मुझे लगा है कि मैं इस कलम की दुनिया में अजनबी हूँ। मालूम होता है कि इसमें मेरा कहीं कोई स्थान नहीं है। इसलिए चुप हो जाता हूँ। अभी कल मैंने एक नई कहानी पढ़ी। मेरी समझ में नहीं आई। मैंने अपने लड़के से कहा, पत्नी से कहा कि उसे पढ़कर बताएँ कि उसमें क्या था। सबने पढ़ी और कहा कि वह उनकी भी समझ में नहीं आई।

"यह सुनकर मुझे बचपन की एक घटना याद आ गई। मैं आर्यकुमार सभा का मन्त्री था। हर सप्ताह समाज के सत्संग में अच्छे वक्ता आया करते थे और

हम लोग नियमपूर्वक उनके भाषण सुना करते थे। एक बार कोई जरूरी काम आ पड़ा और मैं सत्संग में न जा सका। शाम को कुमार सभा का सहायक मन्त्री, जो मेरा मित्र भी था, मेरे पास आया और बोला, 'अरे, सुदर्शन, आज तुम कहाँ रहे? आज का लेक्चर बहुत बढ़िया था, बस मजा आ गया। इतना अच्छा लेक्चर हमने कभी सुना ही नहीं।' मुझे उस दिन सत्संग में न जा सकने का बड़ा अफसोस हुआ और मैंने पूछा, 'भाई, यह तो बता दो कि भाषण में वह क्या था जो तुम्हें बहुत अच्छा लगा।' उसने कहा, 'यार, भाषण इतना बढ़िया था, इतना ऊँचा था कि हमारी समझ में तो कुछ नहीं आया, पर सब लोग उसकी तारीफ कर रहे थे।' यही बात आज की कहानी की है। आजकल उसी कहानी को अच्छा माना जाता है जो समझ में न आए। आज की कहानी जो है—मैं सबके बारे में नहीं कहता—वह एक पहेली है। उस पहेली को जो समझ सके वह समझ ले। जो न समझ सके वह अपना सिर फोड़कर बैठ जाए।

'अब रही संदेश की बात। कई वर्ष पहले मैंने एक नये लेखक से कहा था, 'भाई, सोचकर लिखो कि तुम क्या लिख रहे हो। अगर पाठक उसमें से कुछ ले सकता है तो मुबारकबाद है। अगर नहीं लेता तो तुम्हारा लिखना, प्रेस का छापना, डाकिए का वहाँ ले जाना—सब कुछ बेकार गया।' उस लेखक ने मेरी बात मानी। पुराना होते हुए भी उसकी गिनती आज के नये लेखकों में होती है। लेखकों से तो मैं यही कहूँगा कि हर लेखक लिखने वक्त यह सोच लिया करे कि उसके लिखने से किसीको कुछ फायदा होता है या नहीं। उसके लिखने से देश का भला होता हो, राष्ट्र का उत्थान होता हो तो उसका लिखना सार्थक है, वरना उसे कोई और धन्धा कर लेना चाहिए, और यह लिखने का काम औरों के लिए छोड़ देना चाहिए।"

३-८-१९६६]

सेठ गोविन्ददास

'इन्दुमती' की मूल प्रेरणा

हिन्दी-जगत् ने ऊँचे से ऊँचे साहित्यकारों को तो जन्म दिया है पर उसे तेजस्वी और कर्मठ कार्यकर्त्ताओं की कमी रही है। इन दोनों प्रवृत्तियों का समन्वय करके भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने जिस स्वस्थ परम्परा को जन्म दिया था, वह आगे न बढ़ सकी और हिन्दी का साधक या तो कोलाहल से दूर निर्जन कोने में बैठ, एकान्त साहित्य-साधना में रत रहा अथवा साहित्य-साधना से कोसों दूर, बड़े-बड़े समारोह-मंच जमाकर माँ भारती की आरती उतारता रहा। इस एकोन्मुखता का परिणाम यह हुआ कि हिन्दी-साहित्य की सभी विधाओं के समृद्ध होते हुए भी हिन्दी-जगत् के बाहर सब किसीको यही लगता है कि हिन्दी में उल्लेखनीय कुछ भी नहीं। हिन्दी के लेखकों की परस्पर छींटाकशी से यह धारणा और भी पुष्ट हुई है। इससे अशुभ और क्या होगा कि जिस गति से हिन्दी के साहित्यकारों की गिनती बढ़ी है उससे कहीं अधिक तेजी से उसके सच्चे समर्थकों की संख्या घटी है।

इस अभाव की पूर्ति करने वालों में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के बाद सेठ गोविन्ददास का नाम आता है। सेठजी में इन दोनों गुणों का अपूर्व समन्वय है। मेज और मंच दोनों पर उन्होंने हिन्दी की अनवरत सेवा की है। प्रसादोत्तर हिन्दी-नाटक में तो सेठ गोविन्ददास का स्थान-अक्षुण्ण है ही, 'इन्दुमती' नाम से तीन उपन्यासों के आकार का एक ही बृहत् उपन्यास लिखकर उपन्यास-साहित्य में भी उन्होंने स्थान बना लिया है। यह उपन्यास क्या है, भारतीय जीवन का एनसाइक्लोपेडिया है। इसका कैन्वास इतना बड़ा है कि सन् १९१९ से लेकर स्वतन्त्रता-प्राप्ति तक का इतिहास इन्दुमती के चरित्र-विकास को पृष्ठभूमि प्रदान करता है। इसके कथानक और मनोवैज्ञानिक चरित्र-चित्रण को लेकर मेरे मस्तिष्क में अनेक ऐसे प्रश्न मंडराते रहे हैं जिनपर लेखक से खुलकर चर्चा करने की अपेक्षा थी। पर कभी ऐसा सुयोग हुआ ही नहीं। पिछली बार जब वे संसद् के आपतकालीन अधिवेशन में दिल्ली आए हुए थे, उनसे भेंट हो गई और वार्ता चल पड़ी। उनकी व्यस्तता देख, भूमिका बाँधे बिना ही मैंने पूछ लिया, "आपने एक से एक बढ़िया नाटक लिखे हैं। बताने की कृपा करें कि उपन्यास-कला के किस आकर्षण के कारण आपने 'इन्दुमती' को नाटक के बजाए उपन्यास का रूप देने का निश्चय किया।"

मेरा प्रश्न सुनते ही रहस्योद्घाटन के स्वर में सेठजी बोले, "नाटक लिखने से पहले मैंने कुछ उपन्यास भी लिखे थे, परन्तु यह बहुत पुरानी बात है। यथार्थ में मैंने अपना लेखन-कार्य उपन्यास से ही शुरू किया था। मैंने अपना पहला उपन्यास 'चम्पावती' केवल बारह वर्ष की अवस्था में लिखा था, परन्तु 'इन्दुमती' के सिवा अपने इन उपन्यासों को मैं बालक के खिलौने मानता हूँ। ये उपन्यास हैं भी अब अप्राप्य। 'इन्दुमती' को नाटक के बजाय उपन्यास का रूप देने का यह कारण हुआ कि जिस प्रकार एक आधुनिक महिला की जीवनी मैं लिखना चाहता था वह नाटक के दायरे में नहीं आ सकती थी। फिर इस जीवनी की पृष्ठभूमि में सन् १६१६ से स्वतन्त्रता प्राप्ति तक भारतीय जीवन के हर क्षेत्र का इतिहास भी नाटक में ला सकना सम्भव नहीं था।'

'इन्दुमती' की मूल प्रेरणा की बात उठाते हुए मैंने प्रश्न किया "इन्दुमती के पीछे किसी जीवित व्यक्ति की छाया काम कर रही है या जारज सन्तान सम्बन्धी मनोवैज्ञानिक और सामाजिक समस्याओं के निरूपण के लिए ही आपने इन्दुमती से 'आर्टिफिशियल इन्सेमीनेशन' का प्रयोग करवाया है? कृपया बताएँ, इन्दुमती की मूल प्रेरणा क्या रही है।' बिना किसी घुमाव फिराव के प्रश्न को सीधे लेते हुए सेठजी ने कहा, 'इन्दुमती के पीछे किसी भी जीवित व्यक्ति की छाया नहीं है। इन्दुमती का प्रारम्भिक आदर्श था पत्नीत्व और मातृत्व में विरोध। नारी-जीवन के लिए मैं दोनों बातें आवश्यक मानता हूँ। अत: उसका पहले मैंने विवाह कराया। परन्तु पति के असामयिक निधन के कारण वह माता नहीं बन सकी। पति के प्रति उसका जैसा प्रणय था उसमें माता बनने के लिए कृत्रिम गर्भाधान के अतिरिक्त दूसरा कोई उपाय नहीं था। इसलिए मैंने उसका आश्रय लिया। इन्दुमती की मूल प्रेरणा उपन्यास का पहला वाक्य है 'विश्व में निज का व्यक्तित्व ही सबकुछ है।' यह प्रेरणा उसे अपने पिता से मिली। परन्तु अन्त में जब तक इसका एक दूसरे प्रकार से समाधान नहीं हो गया तब तक उसे सुख नहीं मिला। यह समाधान वेदान्त का मूल विचार है कि यथार्थ में यह सब सृष्टि एक ही तत्त्व है। इस विचार के अन्तर्गत व्यक्ति भी आ जाता है। मैं वेदान्त के इस विचार को मानने वाला हूँ। अत: यही 'इन्दुमती' उपन्यास की मूल प्रेरणा है।"

सेठजी ने जिस वाक्य को अपने उपन्यास की मूल प्रेरणा कहा वह सूत्र रूप में उपन्यास में बार-बार दोहराया जाता है, पर मुझे लगा कि उपन्यास के कथानक और नायिका इन्दुमती के चरित्र-विकास में वह पूरी तरह खप नहीं पाया। उपन्यास के अन्त में डा० त्रिलोकीनाथ ने वेदान्त के आधार पर उसकी जो व्याख्या प्रस्तुत की है वह भी मुझे आरोपित सी लगी। इसलिए, मैंने अपनी शंका को वाणी देते हुए पूछा, "उपन्यास के अन्त में त्रिलोकीनाथ द्वारा प्रस्तुत की गई व्याख्या थिगली-सी लगती है, मानो उपन्यास को किसी निष्कर्ष तक पहुँचाने के लिए ही इसे बाद में

जोड़ा गया हो। क्या आप इस व्याख्या को उपन्यास की धुरी मानते है?"

बिना किसी प्रकार की उत्तेजना के सेठजी ने बड़ी दृढ़ता से मुझे यों निरस्त्र किया, "विश्व में निज का व्यक्तित्व ही सब कुछ है, इसकी त्रिलोकीनाथ द्वारा प्रस्तुत की गई व्याख्या थिगली-सी कदापि नही है। आरम्भ में जब यह वाक्य लिखा गया और अन्त में इसी वाक्य से उपन्यास समाप्त करने का निश्चय किया गया, तभी से त्रिलोकीनाथ की व्याख्या मेरे मन में रही है। इस व्याख्या को ही मै उपन्यास की धुरी मानता हूँ।"

इन्दुमती के चरित्र-विकास के जिस मोड़ ने मुझे आकर्षित किया है, वह है उसके द्वारा इस परम्परागत धारणा का निराकरण कि नारी का चरम विकास मातृत्व में है। इस बात को उठाते हुए मैंने कहा, "इन्दुमती का चरित्र-विकास और उसकी अन्तिम परिणति हमे इस निष्कर्ष पर पहुँचाते है कि नारी का चरम विकास मातृत्व मात्र में नहीं। बल्कि इससे तो मेरी इस धारणा की पुष्टि होती है कि पत्नीत्व के माध्यम से नारी को जो तुष्टि मिलती है, वह भी अपने-आप में ऐसी उपलब्धि है जो उसके स्वस्थ विकास के लिए अनिवार्य है। पुत्र प्राप्ति के बाद भी इन्दुमती का शारीरिक भूख के कारण पात्र-कुपात्र की चिन्ता छोड़, वीरभद्र को पाने के लिए मचल उठना, इसका स्पष्ट प्रमाण है। क्या आप इस निष्कर्ष से सहमत होंगे?" मैं अपनी बात कर रहा था और सेठजी अपने भीतर की गहराइयों में उतर रहे थे, मानो ऐसा करके वे मेरे विश्लेषण की गहराई नाप रहे हों। शायद इसीलिए मेरी बात समाप्त हो जाने पर भी उनकी मौन मुद्रा भंग नही हुई। देखते-देखते उनके मुख पर संतोष की लहर दौड़ गई और वे बोले, "आपकी इस धारणा से मैं बहुत दूर तक सहमत हूँ। आपके दूसरे प्रश्न के उत्तर मे मैंने जो विवेचन किया है वह आपकी इस धारणा के बहुत निकट है।"

आधुनिक नारी के संदर्भ में मुझे ऐसा लगा है कि इन्दुमती के जीवन की असफलता आधुनिक नारी की स्वतन्त्रता और समता की माँग की खिल्ली उड़ाती है। इन्दुमती के जीवन की विडम्बना, स्वतन्त्रता की भूखी प्रत्येक नारी के जीवन की विडम्बना है। मैंने जब सेठजी से पूछा कि इस विषय में उनकी क्या राय है, वे बोले, "इस विषय मे आपने जो विचार व्यक्त किए है उनसे मैं सहमत हूँ।"

'इन्दुमती' उपन्यास पढ़ते-पढ़ते मुझे ऐसा लगा था कि अपनी इच्छा की पूर्ति के लिए इन्दुमती ने डा० त्रिलोकीनाथ को अपना साधन बनाया है, उपन्यास में इससे अधिक उसका कोई महत्त्व नहीं। इसलिए, मैंने पूछा, "डा० त्रिलोकीनाथ बिना पत्नी के पिता बना और इन्दुमती बनी बिना पति के माता, पर इस तथ्य को जानते हुए भी इन्दुमती त्रिलोकीनाथ के बजाय अपने मृतपति ललित मोहन को ही मयंक-मोहन का पिता मानने का आग्रह करती रहती है। क्या यह इन्दुमती द्वारा त्रिलोकीनाथ का शोषण नही?" प्रश्न सुनते-सुनते सेठजी गम्भीर हो गए और मुझे आड़े

हाथों लेते हुए बोले, "इन्दुमती द्वारा त्रिलोकीनाथ का शोषण नहीं माना जा सकता। वह कृत्रिम गर्भाधान से पुत्र चाहती थी और वह पुत्र भी ललित मोहन के सदृश। त्रिलोकीनाथ इन्दुमती का पुराना साथी था। वह डाक्टर हो गया था। अब वह त्रिलोकीनाथ के पास गई। उसने त्रिलोकीनाथ से उसके वीर्य द्वारा सन्तानोत्पत्ति की कामना नहीं की। वह केवल कृत्रिम गर्भाधान चाहती थी, वीर्य चाहे किसी का भी हो। त्रिलोकीनाथ के असमंजस पर उसने कहा भी कि यदि वह उसका प्रबन्ध नहीं कर सकता तो वह किसी अन्य डाक्टर के पास चली जाएगी।"

मेरा अन्तिम प्रश्न था, 'इन्दुमती में आपकी लेखनी का चमत्कार देखकर मन मानने को तैयार नहीं होता कि यह आपका अकेला उपन्यास रह जाएगा। कृपया बताएँ, आपका अगला उपन्यास कब आ रहा है?" प्रश्न सुनकर सेठजी का चेहरा खिल उठा और वे मुस्कराते हुए बोले, "यह जानकर प्रसन्नता हुई कि इस उपन्यास को आप मेरी लेखनी का चमत्कार मानते हैं। जैसाकि मैं पहले ही कह चुका हूँ, यह मेरा प्रथम उपन्यास नहीं है। यह उपन्यास अन्तिम होगा या आगे चलकर मैं और कोई उपन्यास भी लिख सकूंगा, यह कहना कठिन है। इतने बड़े 'केनवास' पर नारी की मनोवैज्ञानिक जीवनी उपन्यास के रूप में लिखने के बाद जब तक इतने ही बड़े केनवास पर लिखने की कल्पना मन में न आए, तब तक 'इन्दुमती' लिखने के बाद दूसरा उपन्यास लिखने का साहस नहीं होता, लिखना चाहता अवश्य हूँ। अतः आज यह कहना कि मेरा अगला उपन्यास कब आ रहा है, सम्भव नहीं है।'

६-७ १९६४]

o

श्री उदयशंकर भट्ट

आधुनिक नारी का द्वैत

जीवन और जगत के प्रति नारी जितनी जागरूक आज है, उतनी शायद पहले कभी नहीं थी। आज वह जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में पुरुष केसाथ कंधे से कंधा भिड़ा कर---मिलाकर नहीं---चलने की मांग करती है। सभ्यता ने उसकी स्वतन्त्रता को स्वीकारा है। कानून ने उसे बराबरी का हक दिया है। आधुनिक शिक्षा-दीक्षा ने उसमें स्वाभिमान का भाव भरा है। इस सबसे नारी की प्रगति का मार्ग खुल गया है और उसकी कुछ समस्याएँ सुलझी भी हैं। पर उनके स्थान पर जो नई उलझनें पैदा हुई हैं, वे और भी भयंकर हैं। सभ्यता, कानून और शिक्षा ने नारी की शारीरिक बेड़ियों को तो काट दिया है, पर उसके भीतर गहरे जमे सदियों की दासता के संस्कार अब भी उसकी आत्मा को जकड़े हुए हैं और वह लाख छटपटाने पर भी उनसे मुक्त नहीं हो पाई है। संस्कारों से वह अभी भी प्राचीन है, पर आधुनिकता को उसने फैशन के रूप में ओढ़ा हुआ है। कुल मिलाकर उसकी स्थिति सुधरने की बजाए बिगड़ी ही है। उसका शोषण अभी भी रुका नहीं, शोषण का रूप भर बदला है और वह उस रूप की चकाचौंध में आपा खो बैठी है।

नारी-जीवन की इस विडम्बना का चित्रण उदयशंकर भट्ट के उपन्यासों में हुआ है। कवि और नाटककार के रूप में तो भट्टजी का स्थान अक्षुण्ण है ही, इधर कुछ वर्षों से उपन्यास को अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाकर उन्होंने जो कृतियां दी हैं, उनका भी अपना स्थान है। 'एक नीड़, दो पंछी', 'सागर, लहरें और मनुष्य', 'डा० शेफाली', शेष-अशेष' और 'दो अध्याय' उनके उल्लेखनीय उपन्यास है। इनमें उन्होंने कुशल जर्राह की तरह नारी-जीवन के इस द्वैत पर बड़ी निर्ममता से नस्तर चलाया है और उसका पूरा मवाद निकाल बाहर करने की चेष्टा की है। रोग के निदान में वे अधुनातन तकनीकों से लैस होकर चले हैं, पर चिकित्सा के रूप में वे आधुनिक प्रयोगों की अपेक्षा सदियों की आजमाई हुई पुरातन पद्धति ही अपनाते हैं; वे काम-वृत्ति को दबाने के पक्ष में तो नहीं, पर उसे खुलकर खेलने देने की बजाय वे उसका संयमन ही हितकर मानते हैं।

पिछले दिनों जब भट्टजी से मिलने का सुयोग प्राप्त हुआ तो मैंने सीधे उनके उपन्यासों पर ही चर्चा छेड़ दी। उनमें बार-बार उठाई गई सेक्स की समस्या को

देते हुए मैंने कहा, "समाज जब किसी स्त्री या पुरुष को विवाह की अनुमति देने से इन्कार करके उसके सेक्स प्रवाह के सभी मार्ग अवरुद्ध कर देता है तब उसके पास सेक्स के उन्नयन के सिवा और कोई स्वस्थ रास्ता नहीं रहता। असफल प्रेमी घोर निराशा के क्षण में आत्महत्या कर सकता है, या फिर किसी दूसरे की हत्या में प्रवृत्त हो सकता है जिसे वह अपने मार्ग का काँटा समझता हो। आप उसे दोनों से बचाकर जो परसेवा के क्षेत्र में प्रवृत्त कर देते हैं, यह स्वाभाविक ही है। प्रेम और परसेवा दोनों में व्यक्ति का अहं चूर-चूर हो जाता है और उसे परम संतोष की उपलब्धि होती है। इस दृष्टि से मुझे डा० शेफाली की अपेक्षा 'दो अध्याय' की शारदा के चरित्र विकास की परिणति अधिक सशक्त और स्वाभाविक दीखती है। इस विषय में आपकी क्या राय है ?"

प्रश्न के उत्तरार्द्ध पर भट्टजी खिलखिलाकर हँस पड़े और बोले, "सो तो होगा ही क्योंकि 'दो अध्याय' 'डा० शेफाली' के बाद लिखा जाने के कारण शारदा के चरित्र विकास की परिणति इस समस्या पर मेरे परिपक्व दृष्टिकोण को व्यक्त करती है।" फिर प्रश्न को और गहराई से लेते हुए बोले, "मैं सेक्स को स्वयं प्रवाहित होते हुए देखना चाहता हूँ। किसी मर्यादा या आदर्श में बाँधना मुझे अभिप्रेत नहीं। 'लोक-परलोक' की चमेली, 'डा० शेफाली' की हीरा देई, 'सागर, लहरें और मनुष्य' की रत्ना इस प्रकार के उदाहरण हैं। जिन पात्रों में अविवेक का दमन नहीं है, या अध्ययन या सेवा से जिन्होंने अपने काम को भस्म कर दिया है या दूसरी ओर उन्मुख कर दिया है, उन्हीं पात्रों को मैं शारदा या शेफाली के रूप में चित्रित करता हूँ ('डा० शेफाली की हीरादेई 'सागर, लहरें और मनुष्य' की दस्दुरा, वंशी आदि पात्रों में काम को सफल करने की शक्ति के अभाव में उन्हें अपने रूप में प्रवाहित होने दिया है)। इस स्थिति तक पहुँचने के लिए जो प्राणग्राही संघर्ष पात्रों के जीवन में होता है, उस तक पहुँचते-पहुँचते जो पात्र मुझे जीवित दिखाई देते हैं, उन्हीं को मैंने वैसे दिखलाया है। वैसा करना आग्रह-ग्रहिलता नहीं है, स्वाभाविक है। हो सकता है, इस अवस्था में भी कुछ लोगों को अस्वाभाविक लगे। मैंने ऐसे पात्र देखे हैं। उनके सम्पर्क में भी आया हूँ। इसीलिए यह निष्कर्ष मैंने अपने पात्रों के लिए भी निकाला।

"शारदा और शेफाली, दोनों ही अपने अन्तर्द्वन्द्व से पीड़ित हैं और दोनों ही अपने मन के प्रिय व्यक्ति को चाहती हैं। किन्तु शेफाली में अपने सेक्स को जीतने की क्षमता कम है जब कि शारदा ने अपने गुरु के प्रभाव से अपने को पूर्णतया साहित्य साधना में ढाल लिया है। मैंने शारदा को जिस अवस्था में छोड़ा है उस अवस्था में प्रत्येक पाठक को खुली छुट्टी दे दी है कि वह अपने तर्क और विवेक के अनुसार निर्णय कर सके। मैं समझता हूँ, पाठक को केवल जितना लिखा है उतना ही समझने की आवश्यकता नहीं। उसमें आत्मबल का निर्णय भी चाहिए।

यही प्रक्रिया 'सागर, लहरें और मनुष्य' की रत्ना की भी है। कुछ लोग मानते हैं रत्ना से डा० पांडुरंग की शादी हो गई, लेकिन मैंने उस पात्र को भी पाठकों के निर्णय पर छोड़ दिया है। मनुष्य का जीवन रहस्यमय है। वह रहस्य यदि बना रहे तो उस पात्र में एक अद्भुत निखार आ जाता है। मैंने इन पात्रों को इसी दृष्टि से देखा है।"

चर्चा को भट्टजी के बहुचर्चित उपन्यास 'सागर, लहरें और मनुष्य' पर लाते हुए मैंने कहा, " 'सागर, लहरें और मनुष्य' को लोग आँचलिक उपन्यास कहते हैं, पर मुझे लगता है कि उसमें बहुत कुछ ऐसा है जो उसे आँचलिकता के घेरे से निकाल कर सार्वभौम बना देता है। मैं समझता हूँ, उस उपन्यास में कोली जाति की रत्ना तो निमित्त भर है— आज की परम महत्त्वाकांक्षिणी एवं स्वतन्त्र नारी की भटकन के चित्रण का। कृपया बताएँ, उस उपन्यास की रचना में आपका मूल लक्ष्य क्या रहा है।"

प्रश्न का स्वागत करते हुए-से भट्टजी बोले, "आप जो कहते हैं सो तो ठीक है ही। मैं भी अपनी इस रचना को कोरा आँचलिक उपन्यास नहीं मानता। जहां तक इस उपन्यास की रचना में निहित मूल लक्ष्य की बात है वह तो आप जैसे लोगों के खोजने का विषय है। पर मैं यह अवश्य बता सकता हूँ कि इसकी रचना के लिए मुझे कब और कैसे प्रेरणा मिली। मछुओं के जीवन से मेरा सीधा सम्बन्ध कभी नहीं रहा, जाति और कर्म से भी नहीं। बात मार्च, १९५३ की है। मुझे अपने एक निकटतम सम्बन्धी को, जो विदेश यात्रा पर जा रहे थे, विदा करने बम्बई जाना पड़ा। यों मैं इससे पूर्व भी कई बार बम्बई गया हूँ और समुद्र-दर्शन, समुद्र-स्नान की लालसा मेरे भीतर सदा ही रही है। समुद्र के किनारे-किनारे घूमना, एकान्त में बैठकर गर्जन सुनना, लहरें देखना यह मेरा 'शेवा' था और उन दिनों भी वही हुआ। बम्बई जाकर अपने को मैं रोक नहीं पाता। आज भी समुद्र के किनारे-किनारे घूमना पसन्द करता हूँ। उस समय मुझे लगता है—समुद्र भी इस पृथ्वी की तरह एक अनन्त संसार है। तो उस दिन मैं अपने एक साथी के साथ घूमते-घूमते वरसोवा नामक ग्राम की ओर जा निकला। वहाँ मुझे एक नई दुनिया दिखाई दी। लहराता समुद्र और वहाँ का जन-जीवन देखकर एक उत्सुकता, एक अभिव्यक्ति की बेचैनी मेरे भीतर फूटने को आतुर हो उठी। मचान पर फैली मछलियाँ, किनारे पर नावों में बैठे मल्लाहों की मस्ती, उनके गीत, उनके जीवन-दर्शन ने मुझे आकृष्ट किया। मैं बहुत देर तक खड़ा-खड़ा उस दृश्य को देखता रहा। उस समय मुझे लगा जैसे मैं भी इसी समुद्र और इन प्राणियों में से एक हूँ। उनके गीतों की जो तान उठ रही थी, उसमें जैसे मुझे समुद्र ताल देता लगा। एक तन्मयता की प्रतीति हुई। मुझे लगा जैसे लहरें उनके हर गान, तान, ओजस्वी लय को आत्मसात् करती बढ़ रही हों और मेरा सर्वांग उन गीतों पर ताल देकर गुनगुनाने लगा।

मैं उस समय अपने को भूल गया। मैंने अनुभव किया, सागर की भी एक कहानी है तो इन सागर पुत्रों की भी।

'वैसे मैं रामेश्वरम, धनुषकोटि, कन्याकुमारी, जगन्नाथपुरी, द्वारिका आदि के समुद्र को भी देख चुका था। उस समय मेरे मन में यह विचार कई बार उठा कि हिन्दी साहित्य में समुद्र का नितान्त अभाव है। इस सम्बन्ध में मुझे जब-तब अपने साहित्यिक मित्रों से भी चर्चा करने का अवसर मिला। उस समय मछुओं के जीवन ने मुझे उत्साहित किया। मैंने निश्चय किया कि यदि मैं इस जीवन को साहित्य में चित्रित कर सकूँ तो कदाचित् हिन्दी साहित्य के प्रत्यमात्र के अभाव की पूर्ति कर सकूँगा। मुझमें एक उत्साह जगा और मैं फिर अपने काम में जुट गया।'

उसी उपन्यास पर मैंने एक और प्रश्न किया, "'सागर, लहरें और मनुष्य' का सुखान्त बनाने के लिए आपने कथानक को जो मोड़ दिया है, वह सस्ता सिनेमाई मोड़ लगता है। वैसे भी आज के युग में रत्ना जैसी स्वतन्त्र विचारों वाली नारी के जीवन का दुखान्त होना ही अधिक स्वाभाविक लगता। उसके उद्धारक डा० पाण्डुरंग जैसे व्यक्ति कल्पनालोक में ही मिलते हैं वस्तु जगत् में नहीं। इस विषय में आपकी क्या राय है?"

प्रश्न की चोट को शान्त भाव से सहते हुए भट्ट जी संयत स्वर में बोले, "'सागर, लहरें और मनुष्य' में रत्ना का अन्त सुखान्त नहीं है। लेकिन सुख के आस पास जरूर है। जैसा चित्रित करना मुझे इसलिए भी आवश्यक लगा कि अपने जीवन के आरम्भ से ही रत्ना भटकती रही है। उसे अपनी परिस्थितियों से घोर संघर्ष करना पड़ा है। उसके जीवन के यौवन में प्राय अमा की रात्रि आती रही है। जहाँ-जहाँ वह गई, जिस जिस व्यक्ति का आश्रय लिया उसीने रत्ना को धोखा दिया। वह दुत्कारी गई और तिरस्कृत भी हुई। इस सारे काल में आशा का एक भी आलोक उसको दिखाई नहीं दिया। स्वाभाविक है कि मनुष्य के जीवन में ऐसी घटनाएँ आती हैं तो प्रकाश भी मिलता है। मैंने देखा कि रत्ना को भी जीवन के सुख का प्रकाश मिलना अपेक्षित है। मैंने डा० पाण्डुरंग की कल्पना की। पाण्डुरंग जैसे व्यक्ति बहुत नहीं होते। पर ऐसे व्यक्तियों का अभाव नहीं है। मैं मानता हूँ, रत्ना साधारण दिखाई देने वाली लड़की नहीं है। उसकी इच्छाएँ पर्वत से ऊँची और सागर से गहरी हैं जिनके पीछे वह बौराई हुई फिरती है। उसको अन्त में पाण्डुरंग जैसा एक व्यक्ति मिलना ही चाहिए। यह मणिकांचन संयोग है। मुझे पाण्डुरंग को ढूंढने के लिए काफी चिन्तन, काफी मनन और काफी समय तक प्रतीक्षा करनी पड़ी। मेरे एक आलोचक मित्र का कहना है कि रत्ना जैसा पात्र हिन्दी साहित्य में ही नहीं, विश्व-साहित्य में भी अद्भुत है। सम्भव है, यह उनका रत्ना के प्रति प्रेमातिरेक हो। किन्तु यह सच है, रत्ना जैसा पौरुषमय-पात्र हिन्दी में तो दिखाई नहीं देता। उसका कारण

यह है कि हिन्दी ने कोली जैसी निर्भीक और वीर जाति को नहीं अपनाया है। आप देखेंगे, वही एक नारी है जो टूटने पर भी झुकी नहीं है।"

भट्टजी ने बड़ी खोज-खबर और यात्रा के बाद साधु-जीवन पर भी एक उपन्यास लिखा है जिसका नाम 'शेष-अशेष' है। साधु-जीवन को अभी तक किसीने छुआ ही नहीं था, पर भट्टजी ने उसे पूरी गम्भीरता से लिया है और इस जीवन के अच्छे-बुरे दोनों ही पक्षों का बड़ा निर्मम विवेचन-निरूपण किया है। पर उसे पढ़ते हुए मुझे ऐसा लगा कि ज्ञानवर्धक होते हुए भी उपन्यास के रूप में वह विशेष जमता नहीं। इसलिए, मैंने प्रश्न किया : "आपका उपन्यास 'शेष-अशेष' आज के साधु-जीवन की पोल खोलने में जितना सफल रहा है, उतना औपन्यासिकता की दृष्टि से नहीं। लगता है, अनेक साधुओं के इतिवृत्तों ने उसके कथानक को बिखेर दिया है। कृपया बताएँ, बाद में इस कृति को पढ़ने पर क्या आपको भी कभी ऐसा लगा।"

प्रश्न तीखा तो था ही। प्रतिक्रिया भी वैसी ही हुई। मेरी स्थापना का निराकरण करते हुए भट्टजी बोले, "मैंने इस उपन्यास को आलोचक की दृष्टि से तो नहीं पढ़ा, जबकि मुझे पढ़ना चाहिए था। मैं आपसे ही एक प्रश्न करता हूँ, क्या उपन्यास एक नपे-तुले ढाँचे का नाम है ? फिर तो आँचलिक, मनोवैज्ञानिक-जैसे उपन्यास इस ढाँचे में नहीं आ सकेंगे। मैं मानता हूँ, आपने जो कहा बिखराव है, पर बिखराव होते हुए भी, आप मानेंगे, उसमें एक-सूत्रता है जो उपन्यास की जान कही जा सकती है। कमल जो इसका मुख्य पात्र है, वह जहाँ-जहाँ जाता है, गहराई से जीवन-दर्शन का अध्ययन करता है और वही कहता है। हाँ, उसमें इसी कारण शाखाएँ-प्रशाखाएँ अपेक्षाकृत अधिक फूटी हैं। यह आज के उपन्यास के लिए सह्य चाहे न हो किन्तु इस कृति द्वारा साधु-जीवन की प्रकृति और विकृति का जो दर्शन उपस्थित है, वह मुझे अभीष्ट भी था। मैं पूछता हूँ, जो मैं कहना चाहता था, वह मैं कहने में सफल हुआ हूँ या नहीं ? उपन्यासत्व इसमें सिद्ध हो या असिद्ध, मैं अपनी बात खुलकर और उपन्यास के ढंग से कह पाया हूँ या नहीं ?" कहते-कहते भट्टजी सहसा रुक गए और उत्तर की प्रतीक्षा में मेरी ओर देखने लगे।

मैंने विनयपूर्वक कहा, "आपके 'शेष-अशेष' में साधु-समाज की प्रकृति-विकृति का यथार्थ और प्रभावोत्पादक चित्रण हुआ है, इस विषय में दो मत हो ही नहीं सकते। मेरी जिज्ञासा, या कहें शिकायत, तो इसलिए है कि आपने यह सारा निरूपण उपन्यास के माध्यम से किया है और उपन्यास का पाठक होने के नाते कमल के साथ-साथ मुझे भी बहुत भटकना पड़ा है और वह भटकन ही मेरी झुंझलाहट के रूप में यहाँ व्यक्त हुई है। उपन्यास के सभी पाठकों को इतना भटकन शायद सह्य न हो।"

मेरी बात सुनकर भट्टजी हँसते हुए बोले, 'भटकन पाठकों को सह्य हो या

न हो, पर इतना निश्चित है कि आपको वह सह्य नहीं। उपन्यास, नाटक या कविता को आप चौखटे में नहीं बांध सकते। फैलाव आज के जीवन का गुण है या दोष, जो कुछ भी हो, पर वह है अवश्य। मनोविज्ञान के अध्ययन से विकृति की ग्रन्थियां फूटकर जो उसे या समाज को गहराई से देखने के लिए बाधित कर देती हैं, उस दृष्टि से भी फैलाव या विस्तार आज के जीवन की एक प्रत्यक्ष वस्तु है। और साहित्य के लिए तो और भी। जिस प्रकार मनुष्य का शरीर पतले पांवों से आरम्भ होकर धीरे धीरे पिंडलियों, जांघों के रूप में बढ़ता बढ़ता पेट और छाती तक आकर फैल जाता है, फिर गर्दन पर सिमटकर पतला हो जाता है और फिर बढ़ता है, उसी प्रकार संकुचन विकुंचन द्वारा लेखक अपने कथ्य को पूर्ण करता है।"

अपने उपन्यासों के हर नये संस्करण में भट्टजी उसमें कुछ न कुछ परिवर्तन अवश्य कर देते हैं। कुछ जोड़ देते हैं और कुछ निकाल देते हैं। कई बार तो उपन्यास का पहला नाम तक बदल कर दूसरा नाम रख देते हैं। उदाहरणार्थ, 'एक नीड़, दो पंछी' उनके पूर्व प्रकाशित उपन्यास 'वह जो मैंने देखा' का नया संस्करण है, 'डा० शेफाली' उनके पहले छपे सामाजिक उपन्यास 'नये-मोड़' का परिवर्द्धित संस्करण है और 'दो अध्याय' उनके उपन्यास 'उत्तराधिकार' का। उनके इस प्रकार के संशोधित संस्करणों के औचित्य की बात उठाते हुए मैंने पूछा, 'अपनी रचना को एक बार पाठकों के सामने रख चुकने के बाद, उसके प्रकाशन के पश्चात्, सर्जक लेखक जब उसे संशोधित करने की दृष्टि से पढ़ता है तो उस समय वह सर्जक कम और आलोचक अधिक होता है। ऐसी स्थिति में क्या यह सम्भावना नहीं रहती कि उसके साथ छेड़-छाड़ करके वह उसे सुधारने की बजाए बिगाड़ बैठे? अपने उपन्यासों के संशोधित और परिवर्द्धित संस्करणों के प्रसंग में इस विषय पर प्रकाश डालने की कृपा करें।"

प्रश्न को गम्भीरता से लेते हुए भट्टजी बोले, 'मैं तो बहुत अल्पज्ञ लेखक हूं। अपनी एक बार लिखी कृति को दोहराने का अधिकार यदि मुझे है, तो प्रकाशित संस्करण में परिवर्तन और परिवर्द्धन का अधिकार मुझसे क्यों छीना जाता है? पात्रों या चरित्र की पूर्णता की दृष्टि से यह सब करना मुझे अच्छा लगता है। समय के साथ अनुभव की वृद्धि होने पर पिछली कृति को पूर्णता क्यों न प्राप्त हो? मुझे कभी-कभी ऐसा लगता है कि मेरे साहित्य के पात्र यदि लूले-लंगड़े, अधे काने रहे तो क्या वे मुझे कोसेंगे नहीं? मेरे मरने के बाद भी वे मुझे चैन नहीं लेने देंगे। आपने नाम परिवर्तन और उपन्यास परिवर्द्धन की बात कही है। ये दोनों बातें विषय वस्तु को 'टु द प्वाइंट' बनाने के लिए की गई हैं ताकि पाठक को आपके कहे अनुसार 'सेप प्रदेश' के पात्रों की तरह भटकना न पड़े। उपन्यास की बात मैं नहीं कहता। किन्तु यूरोप में भी ऐसे लेखक हैं जिन्होंने अपनी कृति का नये संस्करणों में आवश्यकतावश परिवर्तन-परिवर्द्धन किया है। जब मनुष्य के रूप में भी परिवर्तन और

परिवर्द्धन होते हैं तो फिर साहित्य को उससे वंचित क्यों किया जाए ?"

मुझे लगा भट्टजी के उत्तर से मेरे प्रश्न का मूल आशय अछूता रह गया है। लेखक अपनी कृति का पिता है तो पाठक उसका पति होता है। कन्या पति को पा जाए तो पिता का उस पर हक नहीं रहता। इसलिए मैंने अपनी बात स्पष्ट करते हुए कहा, "मैं समझता हूँ, कृति के प्रकाशन से पहले भले ही लेखक उसका एक-मात्र स्वामी होता हो, पर छपते ही उसकी कृति पाठकों की हो जाती है। लेखक तो बस 'रायल्टी' का अधिकारी रहता है, यदि और जब तक वह मिले। ऐसी स्थिति में लेखक द्वारा अपनी रचना के परवर्ती संस्करणों का परिवर्तन-परिवर्द्धन क्या पाठकों के साथ ज्यादती नहीं है ?" उत्तर में भट्टजी बोले, "उपन्यास और नाटक को पाठक प्रायः एक बार पढ़ता है। ऐसी बहुत कम कृतियाँ हैं जो बार-बार पढ़ी जा सकती हैं। उपन्यास तो प्रायः एक बार ही पढ़ा जाने के लिए होता है। इसलिए, उपन्यास का परिवर्तित-परिवर्द्धित संस्करण निकलता है तो वह और पाठक ढूंढ़कर लाता है।"

समय बहुत हो गया था। इसलिए मैंने अन्तिम प्रश्न किया, "आजकल आप क्या लिख रहे हैं ? निकट भविष्य में आपकी कौन-सी नई कृति प्रकाश में आ रही है।" आह-सी भरकर भट्टजी बोले, "अब शरीर इतना अशक्त और आँखें इतनी कमजोर है कि चाहने पर भी जमकर नहीं लिख पाता। लिखने की ऐयाशी की तरह कुछ तुकबन्दियाँ अवश्य कर लेता हूँ, क्योंकि चाहने पर भी यह पुरानी आदत छूटती नहीं। 'मुझमें जो शेष है' नाम से ऐसी ही कविताओं का एक संग्रह अभी-अभी प्रेस में दिया है। इसमे पिछले एक-डेढ़ वर्ष की कविताएँ संगृहीत हैं।"

७-११-१९६४]

o

साधना, संघर्ष और पुरस्कार

आज जब जीवन के सभी मूल्य अर्थ में सिमिट आए हैं और आर्थिक मूल्य ही एकमात्र जीवन मूल्य बन बैठे हैं, पुरस्कार का महत्त्व यदि उसके साथ लगी धनराशि से आँका जाने लगे तो आश्चर्य नहीं होना चाहिए। पर भारतीय ज्ञानपीठ पुरस्कार तो इसलिए भी आकर्षण का केन्द्र बना कि उसने साहित्य को भाषायी और प्रादेशिक सीमाओं से निकालकर व्यापक राष्ट्रीय भूमि पर ला खड़ा किया जिससे 'भारतीय वाङ्मय' की कल्पना पुन मूर्त हो सकी। इस वर्ष का पुरस्कार-सम्मान मिला प्रसिद्ध कथाशिल्पी बाबू ताराशंकर बन्द्योपाध्याय को उनके उपन्यास 'गण देवता' पर। मानव प्रेम और मानवीय चेतना ही तारा बाबू की रचनाओं का मूल स्वर है। कहानी हो या उपन्यास उनकी रचनाओं की पृष्ठभूमि एक ही है, अर्थात हमारा देश, यहाँ के लोग, उनका दु:ख-दर्द, आशा आकांक्षा और यह सब जो इस देश के माटी-पानी में बनता-बिगड़ता है। उनका साहित्य इस सत्य का अनावरण करता है कि भारत की अन्तरात्मा एक और अविभाज्य है। वह अनेक भाषाओं में बोलती है, पर उसकी वाणी एक है।

इतने बड़े सम्मान के बावजूद बाबू ताराशंकर को अपने व्यक्तित्व और कृतित्व के विषय में कोई भ्रम नहीं, इसका पता चला उनसे भेंट करने पर। दिल्ली की सर्दी और सरगर्मी दोनों ने मिलकर उन्हें कुछ अस्वस्थ कर दिया था। तो भी जब मैंने उनसे मिलने की इच्छा व्यक्त की, वे सहर्ष मान गए। तारा बाबू हिन्दी बोल लेते हैं। मैंने हिन्दी में प्रश्न किए तो उन्होंने भी उत्तर हिन्दी में दिए।

चर्चा का आरम्भ करते हुए मैंने पूछा, "आप किन बाहरी अथवा भीतरी विवशताओं से साहित्य-सृजन की ओर प्रवृत्त होते हैं?" बाबू ताराशंकर बोले, "मेरा लिखना बाहर की नहीं, भीतर की प्रेरणाओं से होता है। मैंने जब लिखना शुरू किया था तब पैसा कमाने की बात ही नहीं थी। बचपन में बंकिम को पढ़ा, रवीन्द्र और शरत् को पढ़ा, लिखने की प्रेरणा मिली। बचपन में मेरे तीन दिगन्त थे, सपने थे। एक साहित्यकार बनूँगा, दूसरा, देश के लिए आवश्यकता पड़ी तो फाँसी पर चढ़ जाऊँगा, तीसरा, मोहन बागान में खेलूँगा। पहले खूब फुटबाल खेला, फिर छोड़ दिया। तीस-बत्तीस वर्ष की अवस्था में राजनीति भी छोड़ दी। ये

सब छोड़कर फिर साहित्य-साधना आरम्भ की जो अब तक चल रही है। यह सच है कि उससे जीविका मिली, ख्याति भी मिली। न मिलती तो भी साधना चलती रहती। अभाव से चाहे मर जाता, पर साहित्य-साधना कभी न छोड़ता। भीतर की प्रेरणा से कैसे मुँह मोड़ लेता ?"

तारा बाबू की रचना-प्रक्रिया के बारे में जानकारी प्राप्त करने की इच्छा से मैंने पूछा, "रचना-प्रक्रिया के दौरान क्या आपको कभी ऐसा भी लगा है कि बाहर और भीतर की यथार्थताओं के पहले से लगाए गए अर्थ फीके पड़ने लगे हैं, उनके स्थान पर नये आत्मविस्मृतकारी अर्थ उभर रहे हैं और आपको सत्य के निकट से निकटतर पहुँचने का आभास मिल रहा है ? वे बोले, "हाँ, रचना करते समय ऐसा तो कई बार लगा है कि और गहरे अर्थ मिल रहे हैं पर ऐसा कभी नहीं लगा कि पहले जो सोचा था वह एकदम गलत था। मेरा उपन्यास 'धात्री देवता', जो हिन्दी में 'धरती माता' के नाम से छपा, आत्मकथात्मक है। उसमें मैंने अपने जीवन को आधार बनाया है। तभी तो इसमें बाहर और भीतर की यथार्थताओं की अनुभूति लेखन-प्रक्रिया के दौरान त्रिभुज के समान मिल गई है। कुछ लोग लिखना शुरू करने से पहले पूरा प्लान बना लेते हैं। कुछ उसके बिना ही लिखने लग जाते है। मेरे साथ दोनों प्रकार से हुआ है। मुझे अनेक बार जीविका के लिए लिखना पड़ा। पूरा उपन्यास पन्द्रह दिन में ही लिख डाला। पर जब प्लान करके लिखा तभी रचना सार्थक हुई, वैसे नहीं। पर बाहरी रूप-रेखा बना लेने भर से काम नहीं चलता, वह चाहे कितनी ही सुन्दर हो। शिल्पी प्रतिमा तो बना लेता है, पर वह देवी तभी बनती है जब पुरोहित उसमें प्राण-प्रतिष्ठा करता है। प्राणप्रतिष्ठा के बाद ही तो हम उस प्रतिमा को शीश नवाते है। साहित्यकार शिल्पी और पुरोहित दोनों का काम करता है। तभी तो उसकी अनुभूति में बाहर और भीतर की यथार्थताएँ एकाकार हो पाती हैं।"

चर्चा को पुरस्कार की ओर मोड़ते हुए मैंने पूछा, "भारतीय ज्ञानपीठ पुरस्कार की सूचना मिलने पर आपकी प्रथम मानसिक प्रतिक्रिया क्या हुई ?" तारा बाबू बोले : "एक बजे दोपहर जब फोन पर खबर मिली तब मैं पूजा घर से जा रहा था। अधिक सोचने का अवसर नहीं मिला। बस यही लगा कि यह देवता के प्रसाद से मिला है, मेरे कृतित्व में से थोड़े ही है ?" फिर थोड़ा रुककर बोले, "मेरा भोग करने का समय तो निकल गया, अब तो यह मेरे बच्चों के काम आएगा मेरा दामाद मर गया। लड़की को कुछ सहायता मिल सकेगी। मेरे बच्चे न होते तो शायद सारा दान कर देता। पर अब तो यह उनके लिए ही है।"

पुरस्कार के विषय में मैंने एक और प्रश्न किया, "आपके विचार से साहित्य के उत्थान में इस प्रकार के पुरस्कारों का क्या योगदान हो सकता है ?" बिना किसी संकोचभाव के बोले, "हाँ, कुछ तो है ही। लेखक आर्थिक चिन्ताओं से

मुक्त हो जाता है और उसे लिखने की प्रेरणा मिलती है। मुझे ही देखिए। पहले अधिकांशतः जीविका के लिए लिखना पड़ता था। अब अपनी इच्छा से लिख सकता।"

तारा बाबू के कृतित्व की ओर लौटते हुए मैंने पूछा "आप सौ से अधिक कृतियाँ रच चुके हैं। क्या आप यह बता सकेंगे कि आपको इनमें से कौन-सी सर्वश्रेष्ठ लगती है?" मुस्कराते हुए वे बोले "यह बात मुझसे पूछने की थोड़े ही है। मेरे लिए तो सभी रचनाएँ श्रेष्ठ हैं। आप मेरे बच्चों में से पूछें कि कौन सर्वश्रेष्ठ है तो मैं कहूँगा कि सभी श्रेष्ठ हैं। हाँ, सबसे छोटे के प्रति ममता और स्नेह कुछ अधिक ही होता है। यही बात अपनी रचनाओं के बारे में भी कह सकता हूँ।'

मैंने अंतिम प्रश्न किया "नये साहित्यकार के लिए आप कोई संदेश देना चाहते ?" तारा बाबू हाथ हिलाते हुए तुरन्त बोल पड़े, "नहीं, कुछ नहीं कहना। वे अपना रास्ता आप बना रहे हैं। उन्हें किसी संदेश की आवश्यकता नहीं। हमें भी किसी संदेश की अपेक्षा नहीं थी। तो फिर इन्हें ही क्यों हो?" यह उत्तर सुनकर मेरे भीतर उनके इन शब्दों की सार्थकता गूंज उठी "पुरातन के प्रति मेरे मन में अनुराग है, किंतु नूतन का आह्वान भी मैंने सुना है, और दोनों को अपने साहित्य की माला में गूंथकर महाकाल के चरणों में समर्पित करके अपने को धन्य पाता हूँ।"

१६-१२-१६६७]

o

श्री भगवतीप्रसाद वाजपेयी

निखिल समाज बोध : प्रेम की अन्तश्चेतना

आज के युग में जबकि साहित्य-सृजन 'वाङ्मय तप' के आकाश से उतरकर व्यवसाय की कठोर धरती पर आ टिका है, साहित्यकार के लिए अपनी रचनाओं के स्तर और परिमाण में सन्तुलन बैठाना बड़ा कठिन हो गया है। यह काम उस लेखक के लिए तो और भी कठिन हो जाता है जिसके निकट लेखन केवल 'स्वान्तः सुखाय' नहीं, जीविका का आधार भी है। पर भगवतीप्रसाद वाजपेयी उन विरले साहित्यकारों में हैं जो असंख्य विपरीतताओं के बावजूद इस सन्तुलन को बनाए हुए हैं। उनका लिखना प्रेमचन्दयुग से आरम्भ हुआ था, पर नित्य नये जीवनानुभवों के सहारे युग-युगान्तरों को लाँघते हुए वे अब तक चालीस से अधिक उपन्यासों की रचना कर चुके है जिनमें से अनेक की गिनती हिन्दी की श्रेष्ठतम कृतियों मे होती है।

वाजपेयीजी स्वभाव के सरल और व्यवहार से सात्विक है, दुराव-छिपाव से कोसों दूर। यही ऋजुता उनके कथा-साहित्य में भी है जो उनके संघर्ष-भरे जीवन का दर्पण है। वाजपेयीजी ने जीवन को निकट से देखा ही नही, भोगा भी है। वे जीवन में जो पाते है उसे साहित्य में ढाल देते हैं और जो रचना-प्रक्रिया में पाते हैं उसे जगती मे लुटा देते है। इस प्रकार, जीवन और साहित्य उनके लिए एक-दूसरे के पूरक बन गए है।

मेरे लिए निश्चय ही यह गौरव की बात थी कि पिछली बार जब वे दिल्ली आए उनके साथ उनके उपन्यासों पर चर्चा करने का सुअवसर मिल गया। चर्चा का आरम्भ करते हुए मैंने पूछा, "साहित्य-सृजन की प्रेरणा आपको जीवन और जगत् से सीधे मिलती है या उनके प्रति बन चुके अपने किसी दृष्टिकोण से? अपनी किसी रचना को लिखते समय या उसे पूरा करने के बाद क्या आपको कभी ऐसा भी लगा है कि आपकी जिस विचार-धारा को लेकर वह चली थी उस पर अभी और सोचने-समझने की गुँजाइश है?"

अपने भीतर टटोलते हुए वाजपेयीजी बोले : "साहित्य-सृजन की प्रेरणा मुझे मिलती तो जीवन और जगत् से ही है, किन्तु उसमें यह जिज्ञासा अवश्य निहित रहती है कि अमुक वस्तुस्थिति मे कोई क्षोभ, आक्रोश, प्रतिशोध, छल-प्रपंच,

कृतघ्नता, लूट-खसोट तथा भ्रष्टाचार का समाहार है तो उसका आधार क्या है, वह एक सामाजिक घटना है, या राजनीतिक अवदाह, व्यक्तिवादी उच्छृंखलता है या सामाजिक दुर्भिसंधि। दूसरी बात यह है कि किसी भी कलात्मक सृजन को मैं कभी परिपूर्ण नहीं मानता। ज्यों-ज्यों युग आगे बढ़ता जाता है, पुरातन समस्याएँ नूतन रूप धारण कर लेती हैं। तब प्रासंगिक चिंतन आवश्यक हो जाता है। तभी तो बहुधा ऐसा होता है कि पिछले उपन्यास में हम जहाँ तक आ पहुँचते हैं, अगले उपन्यास में उससे आगे बढ़ जाना अनिवार्य हो जाता है। 'सूनी राह' में करुणा अपने स्वामी सत्याचरण के साथ लौट जाती है और टूटते बन्धन' की मुरली अपना दूसरा जीवन-साथी बना लेती है।'

वाजपेयीजी की लेखन-प्रक्रिया के विषय में जानकारी प्राप्त करने की इच्छा से मैंने पूछा, "रचना प्रक्रिया के दौरान क्या आपको कभी ऐसा भी लगा है कि बाहर और भीतर की यथार्थताओं के पहले लगाए गए अर्थ फीके पड़ने लगे हैं, उनके स्थान पर नये अर्थ विस्मृतकारी अर्थ उभर रहे हैं और आपको सत्य के निकट से निकटतर पहुँचने का आभास मिल रहा है? यदि हाँ, तो कृपया बताएँ, अपने किस उपन्यास में आपको इस प्रकार की अनुभूति सर्वाधिक हुई है?"

अपनी रचना प्रक्रिया का विवेचन करते हुए वाजपेयीजी बोले, "हाँ, ऐसा होता है कि बाहर और भीतर की यथार्थताएँ जीवन के पूर्व निर्धारित अर्थों का रंग फीका कर देती हैं और छूटी हुई कल्पनाएँ प्रयोगात्मक रूप धारण किए बिना नहीं मानतीं। उधार लिए हुए अनुभव काम नहीं देते, अतृप्त कामनाओं और दमित वासनाओं का विस्फुरण हमें ऐसी जगह पर लाकर खड़ा कर देता है, जहाँ आस्थाओं का पुरातन महत्त्व बहुत घिसा पिटा और नवीन उपलब्धियाँ सत्य के अधिक निकट प्रतीत होती हैं। 'चलते-चलते', 'टूटते बन्धन और 'टूटा टी सेट' तथा 'एक स्वर आसू का' उपन्यासों में ऐसी अनुभूति स्पष्ट हो देखी जा सकती है।"

वाजपेयीजी के कई उपन्यासों में विवाहेतर प्रेम प्रसंगों की भरमार है। उनके उपन्यास 'निमन्त्रण' की रेणु द्वारा मालती को बताए गए मालती के आत्मकथ्य में प्रकारान्तर से ऐसे प्रसंगों की सार्थकता भी सिद्ध की गई है—"प्रेयसी, प्रेयसी तो देवी होती है। वह अर्चना की वस्तु है। उसके साथ कहीं ब्याह हो सकता है? विवाह तो देवी को नारी बना डालता है। विवाह तो शरीर के उन स्थूल व्यापारों से सम्बद्ध है जिनसे गन्ध आती है विवाह तो भूख शान्ति का एक मार्ग है, किन्तु तृष्णा जो अमर होती है, उसकी शान्ति तो प्रेयसी ही करती है अपने आत्मदान से।" विवाह-संस्था का यह निरादर वाजपेयीजी के कई पाठकों को सह्य नहीं। उनकी यह शिकायत वाजपेयीजी के समक्ष रखते हुए मैंने कहा, 'आपके अनेक उपन्यासों में विवाहेतर प्रेम प्रसंगों की भरमार है और कई बार ऐसा लगता है कि पात्र सेक्स की उच्छृंखलता को ही सामाजिक विद्रोह की दृष्टि मान रहे हैं। माना कि विवाह

एक सामाजिक बन्धन है, पर उसके अलावा समाज के कई और बन्धन भी तो है जिनसे मुक्त होने के लिए व्यक्ति की आत्मा निरन्तर छटपटाती रहती है। काम के अतिरिक्त अर्थ का मूल्य भी तो जीवन में कम नही माना जा सकता। इस ओर आपका ध्यान बहुत ही कम गया है। क्या आप व्यक्ति की सब समस्याओं का मूल काम में ही मानते हैं ?"

उपर्युक्त आरोप का निराकरण करते हुए वाजपेयीजी बोले, "ऐसा लगता है, जैसे जीवन के समस्त मधुरपक्ष को आप केवल सेक्स की समस्या मान बैठे है। मैं ऐसा कुछ नही मानता। हां, मैं निखिल समाज-बोध को प्रेम की अन्तश्चेतना' की एक संज्ञा अवश्य मानता हूँ। जीवन-सौख्य का सारा उल्लास, मधुर कल्पनाओं की आत्मविभोरकारी समस्त जीवन-चर्या केवल कामवृत्ति है, मेरे किसी सृजन का यह अभिप्राय समझ लेना मेरे साथ अन्याय करना है। मैं यह भी नही मानता कि अर्थोपार्जन और वैभव-नियोजन का संघर्ष मेरे उपन्यासों में नही रहता। 'सूनी राह' का नायक निखिल इसीलिए अपनी राह सूनी कर लेता है कि ऐश्वर्य के समायोजन में वह ऐसी कोई सफलता नही प्राप्त कर पाता जो करुणा की आत्म-गत परिकल्पनाओं में सम्मोहन की सृष्टि कर सकती। 'टूटा टी सेट' की नायिका नीलकमल के जीवन में जो बवण्डर आते है, उनके मूल में अर्थोपार्जन की विभी-षिकाएँ ही तो है। 'टूटते बन्धन' की नायिका मुरली के जीवन में जो मोड़ आता है, उसका आधार यशवन्त की वह दायित्वहीनता ही तो है, जो अकर्मण्यता के कारण आर्थिक नियोजन में उसे असफल बनाए रखती है। 'धरती की सांस' अथवा 'नदी और नाव' का निरंजन भी तो आर्थिक संघर्ष का ही एक संतप्त किन्तु कर्मठ नायक है। ध्यान से देखा जाए तो मेरे दो-तिहाई उपन्यास ऐसे मिलेंगे, जिनमे वैभव नियोजन और आर्थिक संघर्ष की चेतना का यथेष्ट समाहार है। हां, उसके प्रकार अवश्य भिन्न-भिन्न है। मेरे कथा-संग्रहों में तो ऐसी दर्जनों कहानियाँ मिलेंगी जिनकी मूल समस्याएं आर्थिक संघर्ष पर ही आधारित है। पर किसने कहाँ क्या लिखा है, आज इसे देखता कौन है ? आत्म-प्रचार के इस युग में, सच पूछिए तो, इतना ही बहुत है कि आपने मेरा स्मरण कर लिया।"

वाजपेयीजी के इस प्रत्यारोप को झेलते हुए मैंने कहा, "लगता है, इस प्रसंग में आपका ध्यान 'चलते-चलते', 'विश्वास का बल' आदि अपने प्रमुख उपन्यासों की ओर नहीं गया है। जीवन के जिस 'मधुर पक्ष' का आपने अभी उल्लेख किया है, इन कृतियों में तो वह विवाहेतर काम उच्छृंखलताओं द्वारा ही प्राप्य दीखता है।" शीघ्र ही मैंने पाया कि वाजपेयीजी की स्नेह-सिक्त मुस्कान के आगे मैं निरस्त्र हो रहा हूँ।

चर्चा को नया मोड़ देते हुए मैंने कहा, "पात्रों के चरित्र-विकास की दृष्टि से आपके उपन्यासों के स्पष्टतः दो वर्ग मिलते हैं। एक में आपने पात्रों के जीवन में

भावुकता और कामुकता को खुलकर खेलने दिया है जिसके फलस्वरूप वे समाज के विधि निषेधों की उपेक्षा करके मनमानी करने चलते हैं। दूसरे म, उपन्यास और उनके पात्रों की परिणति समाज सम्मत मूल्यों के प्रतिष्ठापन में होती है। ये दोनों वर्ग एक दूसरे से इतने अलग पड़ जाते हैं कि कई बार यह विश्वास करना कठिन हो जाता है कि दोनों का रचयिता एक ही है। कहीं ऐसा तो नहीं कि इस दूसरे वर्ग की रचनाएँ आपने किशोरोपयोगी दृष्टि से लिखी हों ? कृपया बताएँ, आपका उपन्यासकार इन दोनों विरोधी दिशाओं में कैसे चल लेता है, किशोरोपयोगी उपन्यासों की रचना करते समय उसकी स्वाभाविकता क्या रुद्ध नहीं होती ?"

प्रश्न की चोट को सहते हुए वाजपेयीजी संयत स्वर में बोले "पात्रों के जीवन मे भावुकता और कामुकता को मैंने खुलकर खेलने दिया है जिसके फलस्वरूप वे समाज के विधि निषेधों की उपेक्षा करके मनमानी करने चलते हैं, ऐसी कुछ बात वास्तव में है नहीं, कम से कम मैं नहीं मानता। मैंने तो मानव-जीवन की एक सामान्य क्रियाविधि को व्यक्त किया है जो स्वाभाविक और अनिवार्य है। मेरा ऐसा कोई दावा भी नहीं है कि जीवन भावुकता और कामुकता से सर्वथा परे है। फिर पिपासा सदा कामुकतापरक और कामुकता सामान्य मानव-प्रकृति से भिन्न सदा वर्ज्य ही होती हो, ऐसी कोई बात भी नहीं है। जीवन के प्रकृत उल्लास और सौरूय की मृदुल प्रेरणाओं को यदि आप इस प्रकार कोसना शुरू कर देंगे तो मेरा तो कुछ न बिगड़ेगा, लेकिन कालिदास और वाल्मीकि, शरत् और टाल्स्टाय की महान् आत्माएँ क्या कहेंगी, जिनकी पावन परम्परा का हाथ सदा मेरी अन्तश्चेतना पर रहा है ? रही बात समाज के विधि निषेधों की उपेक्षा की, सो वह तो मानवता की रक्षा के लिए उपन्यासकार को करनी ही पड़ती है, क्योंकि कला और सौन्दर्य, साहित्य और संस्कृति, अन्ततोगत्वा हैं तो मनुष्य के हित कल्याण और उसकी चरम और परम सन्तुष्टि और मुक्ति के लिए ही।

'हाँ, मानव-सम्मत मूल्यों के प्रतिष्ठापन के उपन्यास भी मैंने लिखे हैं। पर वह एक अन्य प्रेरणा है जिसका जीवन में अपना अलग महत्व है। वातावरण में जो स्थान दिशाओं का है, लेखक के जीवन में वही स्थान शैली और विधा का है। हो सकता है, मैं कभी ऐसा उपन्यास भी लिखने की चेष्टा करूँ जो मेरी अब तक की अनुभूति-प्रेरणा से सर्वथा भिन्न हो।'

३० १-१९६७]

श्री सुमित्रानन्दन पन्त

मानव-चेतना का महाकाव्य : 'लोकायतन'

आज मानव अपनी प्रगति पर फूला नहीं समाता। जल-थल पर तो उसका आधिपत्य था ही, आकाश को भी उसने मथ डाला है। अणु से लेकर अनन्त तक सब-कुछ अब उसकी पहुँच के भीतर लग रहा है। भूलोक को जीतकर अब वह चन्द्रलोक की ओर बढ़ रहा है। पर इन सब उपलब्धियों के बावजूद जितना दुःखी और विपन्न वह आज है, उतना शायद पहले कभी नहीं था। कारण, बहिर्जगत में पूरी तरह खोकर वह अपने अन्तर्जगत को भूल गया है। उसके बाहर और भीतर के संसार का संतुलन बिगड़ चुका है; उसकी बहिर्चेतना और अन्तश्चेतना का सामंजस्य नष्ट हो गया है। जब तक इन दोनों में फिर से सामंजस्य स्थापित नहीं होता, मानव की भटकन अनन्त रहेगी।

'पल्लव' से लेकर 'लोकायतन' तक महाकवि सुमित्रानन्दन पन्त की काव्य-साधना इसी सामंजस्य की खोज में लीन रही है। बीच में 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' में वे मार्क्सवाद की ओर झुककर कुछ देर के लिए अवश्य बहिर्मुख हो गए थे, पर शीघ्र ही वे 'स्वर्णधूलि' और 'स्वर्णकिरण' में अपनी मूल जिज्ञासा पर लौट आए और उन्हें निश्चय हो गया कि 'आज हमें मानव-मन को करना आत्मा के अभिमुख', क्योंकि—"बहिर्चेतना जागृत जग में, अन्तर्मानव निद्रित; बाह्य परिस्थितियाँ जीवित, अन्तर्जीवन मूर्छित, मृत।" पर एकान्त अन्तर्मुखी साधना की विकृतियों से भी पन्तजी अनभिज्ञ नहीं थे। इसलिए, दोनों के सन्तुलन पर बल देते हुए वे मानव-जीवन के सत्य की ओर बढ़े—

> वही सत्य मानव-जीवन का कर सकता परिचालन,
> भूतवाद हो जिसका रज तन, प्राणिवाद जिसका मन,
> औ' आध्यात्मवाद हो जिसका हृदय गम्भीर चिरन्तन।

यहाँ यह बात उल्लेखनीय है कि पन्तजी की यह आध्यात्मिकता साम्प्रदायिक अर्थ में धार्मिक नहीं, पर सूक्ष्मचेतना के धरातल पर मनोवैज्ञानिक अवश्य है। यह वह आध्यात्मिकता है जो भौतिकता का तिरस्कार नहीं करती, उसका परिष्कार करती है; जो जीवन से वियुक्त नहीं, संयुक्त है; जिसमें जीवन ईश्वर का पर्याय है। 'लोकायतन' में यह आध्यात्मिकता चरम विकास को प्राप्त हुई है—"तुम

जीवन ईश्वर की पूजा", क्योंकि—

> अब भू मंगल ही जीवन व्रत, जीवन रचना ही तप साधन।
> अर्पित मन का श्रम पूर्ण योग, भव शोभा मुख में प्रभु दर्शन॥

'लोकायतन' व्यष्टि-साधना का काव्य नहीं, समष्टि-चेतना का, सामूहिक श्रम का काव्य है "रचना मगन श्रम में ही जन के, संभव जीवन-ईश्वर का अर्चन।" पर इस कृति में भारतीय अध्यात्मवाद इतना निखर कर आया है कि उसे पहचानने में कठिनाई हो सकती है। कुछ तो इसलिए, और कुछ इसके अनुभूति पक्ष के अत्यन्त सूक्ष्म और जटिल होने के कारण हिन्दी जगत में इसकी प्रतिक्रिया विविध रूपों में व्यक्त हुई। इसलिए, बड़ी इच्छा थी कि पन्तजी से मिलकर उनके इस महाकाव्य पर चर्चा की जाए। एक दिन ऐसा शुभ अवसर भी मिल गया।

मैंने चर्चा पन्तजी के प्रबन्ध काव्य की ओर झुकने को लेकर ही शुरू की और पूछा, "'लोकायतन' से पहले आपके काव्य विकास से लगभग निश्चय हो गया था कि आपके कवि की प्रकृति प्रबन्ध की अपेक्षा मुक्तक के अधिक अनुकूल है और वह महाकाव्य की अपेक्षा महान काव्य की रचना में अधिक प्रवृत्त है। पर 'लोकायतन' के प्रकाशन से लगा कि महाकाव्य रचने की दिशा में आप बहुत पहले से और गम्भीरतापूर्वक सोच रहे थे। 'स्वर्णधूलि' और 'स्वर्णकिरण' की अनेक कविताओं में इसकी झलक मिलती है

> खुला अब ज्योति-द्वार,
> उठा नभ प्रीति-ज्वार,
> सृजन शोभा अपार,
> कौन करताऽभिसार,
> धरा पर ज्योति भरण,
> हँसो लो स्वर्ण-किरण।

कृपया बताएँ, ऐसी कौन सी बाहरी एवं भीतरी प्रेरणाएँ थी जिन्होंने आपको महाकाव्य की दिशा में प्रवृत्त किया?"

प्रश्न को पूरी गम्भीरता से लेते हुए पन्तजी बोले, "आपके प्रश्न का मैं यदि एक दूसरे प्रकार उत्तर दूँ तो शायद अपनी बात और अच्छी तरह व्यक्त कर सकूँगा। जीवन के प्रति मेरा जो दृष्टिकोण रहा है उससे मुझे लगता है कि कवि या सर्जक जो कुछ भी लिखता है उसमें युग की परिस्थितियों तथा *युग की चेतना का बहुत* बड़ा हाथ रहता है। इस दृष्टि से देखें तो आज के युग में ऐसी बहुत-सी शक्तियाँ तथा मनोभावनाएँ कार्य कर रही हैं जो कि कहानियों अथवा मुक्तक कविताओं के रूप में अभिव्यक्ति पा रही हैं। लेकिन इन भावनाओं तथा शक्तियों का अतिक्रम कर इस युग में एक ऐसी व्यापक शक्ति अथवा चेतना कार्य कर रही है जो इस युग की बहुमुखी प्रवृत्तियों में एक सर्वांगीण संयोजन भरने के लिए प्रयत्नशील है।

यह तो आप स्वयं भी देखते होंगे कि इस युग में जहाँ एक ओर ह्रास और विघटन की शक्तियाँ कार्य कर रही हैं वहाँ विश्वजीवन के पुनर्निर्माण की एक गम्भीर आवश्यकता भी विश्व-मन में उदित हो रही है।

" 'पल्लव' के बाद, एक प्रकार से, मेरा काव्य विश्व जीवन की गतिविधियों से युक्त रहा है और मैंने समय-समय पर उन प्रवृत्तियों को अपने काव्य-संकलनों में संजोने का प्रयत्न किया है। इसीलिए उनमें एक विविधता वर्तमान रही है। किन्तु भीतर ही भीतर अपने मन में मैं भी विश्व-जीवन की इन गतिविधियों को एक व्यापक पट पर संजोने के लिए प्रयत्नशील रहा हूँ, जिससे इन विभिन्न लगने वाली गतिविधियों को एक समग्र दृष्टि से देखा जा सके। तो एक प्रकार से युग जीवन ने ही मुझे बाध्य किया है कि मैं आज के विश्व-मानस को एक प्रबन्ध-काव्य में बाँध सकूँ, जैसा कि मैंने 'लोकायतन' में भी कहा है :

छंद ग्रथित कर खंड धरा-मानस को
जीवन रचना करो, तंत्र में नूतन।

'लोकायतन' अपने पूर्ववर्ती महाकाव्यों की परम्परा के लिए—उस परम्परा के पाठकों के लिए भी—बहुत बड़ी चुनौती है। इस बात को उठाते हुए मैंने कहा, "लोकायतन' न किसी महान् व्यक्ति-चरित्र को लेकर चलता है, न अतीत के किसी स्वर्णयुग का गौरव-गान करता है और न ही पतितों-शोषितों के उद्धार का बीड़ा उठाता है। इसकी कथावस्तु नगण्य-सी है और पात्रों का चरित्र-चित्रण भी इसका ध्येय नहीं। विचार के धरातल पर भी इस कृति में क्रान्ति के दर्शन होते हैं। भारतीय अध्यात्मवाद के विरुद्ध यह कृति बड़े जोर की आवाज उठाती है; योगियों की काम्य अवस्था समरसता या समत्वयोग को आत्मबोध की निष्क्रिय स्थिति मानकर उसे व्यर्थ सिद्ध करती है। जन्म-जन्मान्तर के संस्कारों से मुक्त होकर स्वतन्त्र मनन-चिन्तन की जो प्रवृत्ति 'लोकायतन' में मिलती है वह निश्चय ही स्वस्थ, अतः अभिनन्दनीय है। पर, जहाँ तक मेरी जानकारी है, मृत्यु से साक्षात्कार हुए बिना प्राचीन संस्कारों से मुक्ति पाना असम्भव है। लगता है, आपको भी मृत्यु से जूझना पड़ा है या अनेक बार मरण की यन्त्रणाएँ भोगनी पड़ी हैं जो आपको यह दृष्टि मिल सकी। कृपया बताएँ, मेरा ऐसा सोचना कहाँ तक ठीक है ?"

मेरी बात को बड़े धैर्य से सुनने के बाद पन्तजी बोले, " 'लोकायतन' में किसी महान् व्यक्ति, चरित्र या व्यक्तित्व की स्थापना इसलिए नहीं मिलती है कि यह एक सर्वांगीण चेतना का काव्य है। महान् से महान् व्यक्ति इस चेतना-सिन्धु के एक विशिष्ट ज्वार या तरंग के रूप में कहे जा सकते हैं। प्राचीन काव्य चरित्र-प्रधान या नायक-प्रधान इसलिए है कि वे परम्परा पर आधारित मूल्यों के उपासक हैं और 'लोकायतन' एक समग्र उन्मुक्त विकासशील मानव-चेतना का काव्य है,

जैसाकि मैंने इसकी भूमिका में भी कहा, 'इसमें जो भी व्यक्ति या चरित्र आए हैं वे केवल मानव चेतना को आगे बढ़ाने वाले पालकी-वाहक हैं।'

"'लोकायतन' में विचारों के धरातल से भी अधिक चेतनामूलक क्रांति मिलेगी। यह भारतीय अध्यात्म के विरुद्ध न होकर मध्ययुगीन अध्यात्म के विरुद्ध है जिसमें ईश्वर को जगत् से विच्छिन्न कर दिया गया है और ईश्वर का स्पर्श जगत और जीवन के भीतर से न पाकर, उसके एकांगी और ऊर्ध्वमुखी निवृत्ति-मूलक पारलौकिक पथ पर जोर दिया गया है। योगियों अथवा द्रष्टाओं ने जिस समरस स्थिति के दर्शन केवल आत्मा के स्तर पर प्राप्त करके संतोष ग्रहण कर लिया है, मैंने उसे जगत और जीवन की ओर प्रेरित करने पर बल दिया है और इस प्रकार उस निष्क्रिय आत्मबोध की स्थिति को सक्रियता प्रदान करने का प्रयत्न किया है।

"'लोकायतन' को मैं दूसरी दृष्टि से सिद्ध काव्य मानता हूं, क्योंकि उसके भीतर जो कुछ भी है, वह काल्पनिक नहीं, मेरा अनुभूत सत्य है, और वह किसी भी मनुष्य का अनुभूत सत्य होने की क्षमता रखता है। मुझे इस बात का भी अनुभव हुआ है कि जिन पाठकों ने सहज दृष्टि से आस्थापूर्वक इसका बार-बार अध्ययन किया है, उन्हें भी उसी प्रकार सोचने की दृष्टि मिल सकी है, जैसा कि मुझे अनेक पाठकों के पत्रों से ज्ञात हुआ है। यह एक धार्मिक काव्य न होकर सांस्कृतिक काव्य है। इसलिए इसके लिए धार्मिक आस्था नहीं, प्रत्युत् मानवमूल्य पर आस्था अपेक्षित है।

"मेरे भीतर 'लोकायतन' की चेतना का संघर्ष सन् १६२६ में ही प्रारम्भ हो गया था और उसके बाद मैंने जो कुछ भी लिखा है वह किसी-न-किसी रूप में उसी संघर्ष का द्योतक है। चेतनामूलक विभिन्न क्षेत्रों की अपनी जिन अनुभूतियों को मैं 'पल्लव' के बाद की रचनाओं में वाणी देता आया हूं, उनका समग्र संयोजित रूप ही 'लोकायतन' में मिलता है। जैसाकि मैंने 'आधुनिक कवि' की भूमिका में भी लिखा है, जगत् तथा जीवन के प्रति मेरी विगत संस्कारगत दृष्टि की मृत्यु हो चुकी थी। नई दृष्टि को प्राप्त करने के लिए मुझे अविराम घोर संघर्ष करना पड़ा जिसका विनम्र दिग्दर्शन मैंने 'साठ वर्ष : एक रेखांकन' में भी किया है। अपनी साधना के विषय में विस्तार से कहना अशोभन लगता है। इसीलिए जब भी उसकी आवश्यकता पड़ती है, मैं उस विषय में संकेत मात्र करके छोड़ देता हूं।"

'लोकायतन' में पंतजी ने जिस आध्यात्मिकता का प्रतिपादन किया है, उसका जिक्र करते हुए मैंने कहा, "'लोकायतन' में भारतीय अध्यात्मवाद का बड़ी निर्ममता से खंडन हुआ है, पर इस कृति में अन्ततः प्रतिष्ठित भी आध्यात्मिकता ही हुई है, यद्यपि यह आध्यात्मिकता ऐसी है जो दमन नहीं, उन्नयन को प्रश्रय देती

है; प्रेम की प्रेरणाओं को काटती नहीं, पालती है। कृपया बताएँ, इस आध्यात्मिक चेतना की उपलब्धि में आपको किस व्यक्ति या दर्शन से सर्वाधिक प्रेरणा मिली?"

अध्यात्मवाद की अपनी संकल्पना को स्पष्ट करते हुए पन्तजी बोले, " 'लोकायतन' में मैंने मध्ययुगीन जीवन परम्पराओं तथा आध्यात्मिक दृष्टिकोणों का खंडन किया है और भारतीय अध्यात्म से जो कुछ मुझे अपनी व्यक्तिगत अनुभूति की कसौटी में प्राप्त हो सका है, उसी की स्थापना मैंने इस लोक जीवन-सम्बन्धी काव्य में करने की कोशिश की है। मैं विश्वासपूर्वक कह सकता हूँ कि वही सच्ची भारतीय आध्यात्मिक दृष्टि है जो लोक-जीवन के कल्याण में, मानव-प्रवृत्तियों के परिष्कार में और सर्वमंगलमय सन्देश में विश्वास रखती है। वह दृष्टि भौतिकता को आध्यात्मिकता की पदपीठ मानती आई है; जैसाकि हमें 'पदभ्यां पृथ्वी' जैसे आर्षवचन में मिलता है।"

"यह आध्यात्मिक क्रान्त दृष्टि मुझे अपने युग की समस्याओं से ही मिली है। शैव तथा वैष्णव साहित्य के अध्ययन से, उपनिषदों तथा पुराणों के मनन से, स्वामी रामकृष्ण परमहंस, स्वामी रामतीर्थ, स्वामी विवेकानन्द तथा श्री अरविन्द आदि द्रष्टाओं तथा चेतना के साधकों के व्यक्तित्वों से मुझे अपने अन्तःसंघर्ष को समझने तथा सुलझाने में सर्वाधिक प्रेरणा तथा सहायता मिली है। जैसा कि मैं पहले भी कह चुका हूँ, ये सब मनीषी तथा पश्चिम के आधुनिक वैज्ञानिक तथा राजनीतिक चिन्तक भी केवल इस युग के विश्वमन की देन है जिसका जन्म युगीन आवश्यकता की पूर्ति के लिए हुआ।"

'लोकायतन' पढ़ते समय मुझे लगा था कि माधव और वंशी मानव की दो परस्पर-विरोधी दीखने वाली प्रवृत्तियों के परिचायक हैं—माधव निरालाजी के निकट है तो वंशी स्वयं पन्तजी के। अपनी इस धारणा को व्यक्त करते हुए मैंने कहा, " 'लोकायतन' व्यष्टि का नहीं समष्टि का काव्य है, जिसमें वैयक्तिक मुक्ति को निरर्थक और सर्वमुक्ति को ही व्यक्ति-मुक्ति माना गया है। इसमें व्यष्टि का प्रतीक माधव बना है और समष्टि का वंशी। माधव में निरालाजी की झाँकी मिल जाती है और वंशी में आपकी। मुझे लगता है, ये दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं; विलोम दीखते हुए भी एक-दूसरे के पूरक है। माधव वंशी को बाँधता ही नहीं, खोलता भी है। स्वयं वंशी पर भी यह तथ्य प्रकट हो जाता है कि—'वंशी के ही थे विलोम माधव, जान सका जिनसे वह अपने को'। इसी प्रकार, मैं समझता हूँ, व्यक्ति-मुक्ति सर्वमुक्ति का विलोम दीखे भले ही, पर है नहीं। 'स्व' की सीमा लांघे बिना कोई 'पर' की—और उससे भी आगे 'सर्व' की—सोच ही कैसे सकता है और 'सर्वमुक्ति' का कामी आत्मकेन्द्रित कैसे हो सकता है?"

मेरे इस प्रश्न से चर्चा व्यक्तिगत स्तर पर आ सकती थी और मुझे डर था कि

कहीं बात बिगड़ न जाए। पर पन्तजी शान्त और संयत स्वर में बोले, "इसमें सन्देह नहीं कि 'लोकायतन' समष्टि का काव्य है, लेकिन यह समष्टि व्यष्टि विरोधी समष्टि नहीं, जैसा कि आज के ह्रास युग का व्यक्ति सोचता है। निर्माण के युग में सदैव व्यष्टि और समष्टि एक दूसरे के पूरक रहते हैं और ह्रास के युग में वे एक दूसरे के विरोधी बन जाते हैं। यह इसलिए कि समष्टित तो मानव चेतना या विश्व जीवन आगे बढ़ने की चेष्टा करता है और अप्रबुद्ध व्यक्ति पिछड़े या विगत सांस्कारिक जीवन का प्रतिनिधि होने के कारण समष्टि के पथ में विरोध उपस्थित करता है।

"मैं इस बात से पूरी तरह सहमत नहीं हूँ कि माधव में निरालाजी की झाँकी मिलती है और वंशी में मेरी। इसमें माधव या माधोगुरु विगत सांस्कृतिक मूल्य अथवा विगत मानव-अहंता के प्रतीक हैं और वंशी विकासशील चेतना तथा भावी मानव मूल्यों का प्रतीक है। और लोगों ने भी मुझसे कहा है कि माधो में निरालाजी की और वंशी में मेरी झाँकी मिल जाती है। लेकिन कोई ध्यानपूर्वक पढ़े तो शांति-आश्रम के संचालक माधव निरालाजी से बिल्कुल ही भिन्न व्यक्ति हैं और बहुत सम्भव है कि निरालाजी के व्यक्तित्व का कुछ अंश वंशी में और मेरे व्यक्तित्व का कुछ अंश माधव में मिल जाए। इस समष्टिगत विकास के संचरण तथा युग परिवर्तन में इस प्रकार की बाहरी-भीतरी बाधाएँ उपस्थित होना स्वाभाविक है क्योंकि किसी भी मूल्य या वस्तु का एक क्षण में रूपान्तरण नहीं हो सकता। इसलिए भी यह आवश्यक हो जाता है कि वंशी एकदम विगत की पृष्ठभूमि से विच्छिन्न न हो सके और माधव आने वाली विकास-पीठिका की ओर चरण बढ़ाने में न हिचके। किन्तु यह भी स्पष्ट है कि माधव की वृत्ति अतीतोन्मुखी है और वंशी की भविष्योन्मुखी। इस युग के संघर्ष को स्पष्ट करने के लिए इन दोनों प्रकार की वृत्तियों का संघर्ष दिखाना 'लोकायतन' जैसे विश्वभूमिका पर चलने वाले काव्य के लिए अनिवार्य था। माधो और वंशी एक-दूसरे के विनाश या पूरक इस ग्रंथ में हैं कि वे वैश्व विकास की एक आवश्यक द्वन्द्व-परम्परा की पूर्ति करते हैं।"

अनुभूति-प्रधान काव्य होने के कारण 'लोकायतन' अपने पाठकों से विशेष आयाम और पूर्ण मनोयोग की अपेक्षा करता है जो हर किसी से नहीं हो पाता। इसलिए अनेक स्थलों पर वह दुरूह लगने लगता है। पाठक की इस कठिनाई की चर्चा करते हुए मैंने कहा, "प्रथम सर्ग 'पूर्वस्थिति' में आपने भारतीय लोकमानस के अवचेतन में व्याप्त जन्म जन्मान्तर के संस्कारों का बड़े सुन्दर और मनोवैज्ञानिक ढंग से दिग्दर्शन कराया है तथा 'उत्क्रान्ति' में अन्त:बुद्धि द्वारा नये संस्कार डालने के उद्देश्य से मानवचेतना को अनेक ज्योति चक्रों से गुज़ारते हुए कई स्वर्णिम सोपानों पर चढ़ाया है। ये दोनों सर्ग बड़े भव्य बने हैं, पर गूढ़ इतने हैं कि इनमें आए प्रतीक साधारण पाठक की पकड़ से बाहर होने के कारण वह मन की ध्यानभूमियों, चेतना

के विविध स्तरों की बारीकियों को समझ नहीं पाता और उसे अनेक स्थलों पर पुनरावृत्ति दीखने लगती है। आप 'लोकायतन' की प्रतीक-योजना पर थोड़ा प्रकाश डाल दें तो बड़ी कृपा होगी।"

पन्तजी बोले, "इस युग में फ्रायड आदि के मनोविज्ञान के कारण मनश्चैतन्य के निचले उपचेतन, अचेतन स्तरों पर ही अधिक बल दिया जाता है, यहाँ तक कि कला, दर्शन और काव्य भी इन दृष्टिकोणों से अतिरंजित पाए जाते हैं। मैंने 'लोकायतन' में चेतनामूलक भारतीय दृष्टिकोण ही रखा है जो मुझे अधिक पूर्ण लगता है। हमारे यहाँ सप्तसिन्धु आदि प्रतीकों द्वारा चेतना के सात स्तरों या लोकों की बात कही गई है और सात स्तर भू, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्यम् हैं—जिसको आप आधुनिक मानव के लिए अन्न, प्राण, मन, महतत्त्व, सत्, चित् और आनन्द (सच्चिदानन्द) भी कह सकते हैं। फ्रायड आदि मनोवैज्ञानिकों ने केवल प्राणचेतना के ही विभिन्न स्तरों को महत्त्व दिया है। इसीलिए जीवन के प्रति उनका दृष्टिकोण एकांगी ही रहा है। और मानव जीवन में सामंजस्य स्थापित करने के लिए उन्होंने जितने समाधान दिए हैं, वे भी सब एकांगी रहे हैं। जो मूलगत भारतीय दृष्टिकोण है मैंने उसके अनुरूप ही मानव-चेतना के विश्वजीवन में संजोने की चेष्टा की है, क्योंकि प्राणों का या मन का स्तर व्यक्ति में सीमित न होकर एक विश्वव्यापी स्तर है, इसलिए व्यक्तिगत चेतना का संस्कार एक सामाजिक या वैश्व धरातल से शक्ति संचय करने का प्रयत्न करता है और इसलिए उसके सामाजिक रूप को अधिक महत्त्व दिया गया है। इन चेतना-भूमियों को ध्यान में रखने से 'लोकायतन' में आई हुई प्रतीक-योजना को समझने में सहायता मिलेगी।"

'लोकायतन' के बौद्धिक-पक्ष पर चर्चा छेड़ते हुए मैंने पूछा, "'लोकायतन' की स्थापना है—'रागचेतना का विकास ही, निखिल प्रगति का सार, न संशय।' पर 'लोकायतन' स्वयं, काव्य के रूप में, रागात्मक कम और बौद्धिक अधिक हो गया है। क्या इसे आज के बुद्धिवादी युग का प्रभाव माना जाए?"

प्रश्न एक प्रकार से आक्षेप के रूप में आया था, पर उसे शान्ति से झेलते हुए पन्तजी बोले, "आने वाले जीवन को समझने के लिए हमारी वर्तमान राग-भावना पर्याप्त नहीं है क्योंकि इस राग-भावना के मूल हमारे अतीत के जीवन में है। आने वाले युग को समझने के लिए जिस राग-भावना की आवश्यकता होगी, वह निश्चय ही बुद्धि की आँच में तपकर सोने-सी निखरी भावना होगी। आज भी हमें intellectualised emotion या emotionalised intellect जैसी बुद्धि और भावना के लिए परिकल्पनाएँ देखने को मिलती है। 'लोकायतन' की चेतना को जो भावना व्यक्त कर सकती थी, उसमें निश्चय ही बुद्धि का एक अंश भी निहित है, इसलिए, 'लोकायतन' बाह्य दृष्टि से बौद्धिक काव्य दीखने पर भी अन्ततः उपयुक्त अर्थ में भावनाप्रधान अथवा रसप्रधान काव्य है। मेरे कई पाठकों के मन में

भी ऐसी ही प्रतिक्रिया हुई है। यह काव्य भावनामूलक इसलिए भी है कि यह मूलतः व्यापक संव्यापक अर्थ में मानव-प्रेम का काव्य है।"

फिर, चर्चा को समेटते हुए पंतजी ने कहा, "अन्त में मैं आपसे यह भी कहना चाहूँगा कि 'लोकायतन' में मैंने किसी महत् स्वप्न की कल्पना नहीं की है। उसमें मैंने मानव-जीवन के महत् सत्य अथवा मन्न सत्य को ही प्रबुद्ध पाठकों के सम्मुख रखने का प्रयत्न किया है। वह ऊर्ध्व तथा समदिक् जीवन के असफल समन्वय का काव्य नहीं, मानव चेतना के बहिरन्तर रूपान्तरण का काव्य है। ऊर्ध्व और समदिक् के समन्वय सम्बन्धी उसके कुछ समीक्षकों की कल्पना वैसी ही अर्थहीन तथा हास्यास्पद है जैसी कि हाईस्कूल तथा एम० ए० के पाठ्यक्रम के समन्वय की कल्पना हो सकती है। क्योंकि समदिक् सचरण मानव जीवन सत्य का एक निचला सोपान भर है जिसे विकासक्रम में अपनी ऊर्ध्वस्थितियों की ओर प्रगति करना है। ऐसे भ्रामक समन्वय की कल्पना के कारण ही मन अपने को भूल भुलैया में भटका हुआ पाता है और अन्तर्मूल सम्बन्धी ऐसे ही भ्रम के कारण दृष्टि कला शिल्प के भीतर भी प्रवेश नहीं कर सकती।

"दूसरी बात यह कि 'लोकायतन' रागचेतना के उन्नयन से सम्बद्ध होने के कारण—जैसा कि प्राचीन राम तथा कृष्ण पर आधारित सस्कृतियाँ भी अपने स्तर पर रही हैं—उसमें रागभावना की सम्भव निम्न स्थितियों का चित्रण आवश्यक हो जाता है। वर्तमान जीवन-विकास की स्थिति में रागभावना के रथ को बादलों के ऊपर ही ऊपर ले जाना इस फ्रायड-युग में स्वाभाविक न होता। उसके चक्रों को युग-जीवन के कर्दम में धँसा हुआ दिखाना भी आवश्यक था। रूप सौन्दर्य के माध्यम से चेतना सौन्दर्य की अभिव्यक्ति अनिवार्य होने के कारण—राधाकृष्ण के प्रतीक जिसके उदाहरण हैं—देह-शृंगार को मानव-मूल्य देना आवश्यक हो जाता है, उसका निपटारा केवल परदे की ओट में करना पर्याप्त नहीं। फिर भी इस प्राय ७०० पृष्ठों के काव्य में स्थूल देह-शृंगार सम्बन्धी पद केवल एक-दो पृष्ठ तक सीमित हैं। यदि वे भी किसी को खटकें और काव्य में सर्वाधिक चर्चास्पद जान पड़ें तो इसका अवश्य ही कोई व्यक्तिगत मनोवैज्ञानिक कारण हो सकता है। रीति-कालीन काव्य में यदि चैतन्य को देह-यष्टि में सीमित कर दिया गया था तो 'लोकायतन' में देह की सीमा को चैतन्य के धरातल पर उठा लिया गया है, जो वर्तमान सामूहिक जीवन की एक अनिवार्य स्थिति तथा आवश्यकता है। यह मध्ययुगीन संस्कारों तथा खोखले नैतिक दिखावा में पोषित व्यक्ति को भले ही असम्भव प्रतीत हो, पर वह आज के जीवन-विकास की स्थिति में भी—जबकि स्त्री-पुरुष संयुक्त रूप से सामूहिक कार्य-कलापों की ओर अग्रसर हो रहे हैं—अधिकाधिक सम्भव होता जा रहा है। स्त्री-पुरुषों के बीच की राग-शृंखला को संकीर्ण देह मूल्य में ही सीमित न रखकर उसे व्यापक सामाजिक, रागमूल्य में उठना ही

होगा। इसमें असम्भव क्या है, यह समझ में नहीं आता। वही तो उसकी स्वस्थ परिणति है। वैष्णवों ने प्रेम का विश्लेषण जिन स्नेह, प्रणय, मान, राग, अनुराग, भाव, महाभाव के स्तरों पर किया है उसमें राग को सात्विक वृत्ति माना गया है, जिसका सामाजिक वितरण 'लोकायतन' में मिलता है। मैंने निष्क्रिय भाव को लोक-जीवन के महत् अन्तर्दर्शन (vision) में, और महाभाव को महत् विश्व-सृजन कर्म में क्रियाशील तथा परिणत किया है, जो उसकी स्वाभाविक विकासगति होना चाहिए।

" 'लोकायतन' मध्य युगीन, निर्गुणपरक, निवृत्तिमूलक, ऊर्ध्वसाधना-पथ का काव्य न होकर आधुनिक युग के लिए उपयुक्त विश्वजीवन-मंगल की ओर उन्मुख काव्य है, जिसमें ब्रह्म तथा ईश्वर को जीवन से विच्छिन्न न मानकर वागर्थाविव सम्पृक्त माना गया है, जिसकी सूचना आरम्भ के मंगलाचरण से ही मिलने लगती है, और यही वास्तव में भारतीय आध्यात्मिक एवं औपनिषदिक दृष्टिकोण भी रहा है—'ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्'। आज के इस बहिर्भ्रान्ति वैज्ञानिक युग के लिए एवं मध्ययुगीन अध्यात्मवाद के अन्तर्भ्रान्ति जागरण के युग के लिए मैं 'लोकायतन' की दृष्टि की अनिवार्य आवश्यकता तथा उपयोगिता मानता हूँ।"

११-५-६६]

o

श्री इलाचन्द्र जोशी

तत्त्व-बोध का मूल मन्त्र आत्म-विश्लेषण

देश की राजनीतिक स्वतन्त्रता तो बहुत बाद में मिली, पर उससे दो-ढाई दशक पहले ही हिंदी का उपन्यासकार अपनी मानसिक मुक्ति की घोषणा कर चुका था। धर्म के पाप पुण्य, समाज के विधि-निषेध तथा राजनीति के भय-प्रलोभन से ऊपर उठकर वह साहित्य के माध्यम से व्यक्ति सत्य की खोज में व्यक्ति मानस की गहराइयों में उतरने लगा था। इस दिशा में मील का पहला पत्थर बना इलाचन्द्र जोशी का उपन्यास 'घृणामयी'। जोशीजी की मान्यता है कि मनुष्य वही नहीं है, जो वह दिखाई देता है, उसके बाहरी रूप के भीतर कितनी परतों के नीचे उसका असली रूप छिपा रहता है। इसलिए उनका विश्वास है कि अज्ञात चेतना के पाताल लोक में स्थित अनन्त नरक के विश्लेषण द्वारा बाह्य जीवन-तत्त्वों के साथ उन नारकीय, किन्तु मूल, जीवन-तत्त्वों का समुचित सम्बन्ध स्थापित करके ही मानव-जीवन के लिए अपेक्षित स्वर्ग की प्राप्ति की जा सकती है। 'संन्यासी', 'पर्दे की रानी' तथा 'प्रेत और छाया' से लेकर 'निर्वासित', 'जिप्सी' और 'जहाज का पंछी' तक उनके सभी उपन्यासों में इसी लक्ष्य तक पहुँचने की छटपटाहट मिलती है।

जोशीजी की इन तलस्पर्शी रचनाओं का अनुशीलन करते समय मन में अनेक जिज्ञासाएँ उठी थीं जिन्हें अपने भीतर इस आशा से सजोए रहा कि कभी-न-कभी तो उन्हें जोशीजी के समक्ष रखने का अवसर मिलेगा। आखिर, यह सुयोग भी मिल गया। मैंने उन तक अपनी जिज्ञासाएँ पहुँचा दीं और जोशीजी ने अपने समाधान लिख भेजे। उनकी रचना प्रक्रिया के विषय में जानकारी प्राप्त करने के लिए मैंने पहला प्रश्न यह किया था, "रचना-प्रक्रिया के दौरान क्या आपको कभी ऐसा भी लगा है कि बाहर और भीतर की यथार्थताओं के पहले से लगाए गए अर्थ फीके पड़ने लगे हैं, उनके स्थान पर नये चरम विस्मृतकारी अर्थ उभर रहे हैं और आपको सत्य के निकट से निकटतर पहुँचने का आभास मिल रहा है? यदि हाँ, तो कृपया बताएँ, अपनी किस औपन्यासिक कृति में आपको इस प्रकार की अनुभूति सर्वाधिक हुई है।"

मेरा प्रश्न जोशीजी को तीस पैंतीस वर्ष पहले की मनोभूमि में ले गया और

उन्होंने अपनी लेखन-प्रक्रिया का सूत्र पकड़ते हुए यों आरम्भ किया : "अपनी सर्व-प्रथम औपन्यासिक कृति ('घृणामयी') की रचना के पूर्व से ही मुझे यह अनुभव होने लगा था कि जिस तथाकथित साहित्यिक यथार्थ का चित्रण हिन्दी-जगत् में होने लगा है वह जीवन के यथार्थ को अभी तक छू भी नहीं पा रहा है—विशेष करके अन्तर्जीवन के यथार्थ को। यह अनुभव मुझे पाश्चात्य देशों के यथार्थवादी उपन्यासों को पढ़ने से नहीं हुआ (हालांकि मैं तब तक पाश्चात्य देशों के प्रायः सभी प्रमुख यथार्थवादी उपन्यासकारों की अधिकांश कृतियाँ पढ़ चुका था)। यह अनुभव सबसे पहले मुझे स्वयं अपने वैयक्तिक जीवन और अपनी अवचेतना के नाना स्तरों की गहरी खुदाई, उनका अत्यन्त निर्मम और यथासंभव 'ऑबजैक्टिव' विश्लेषण और अपने ही अन्तस्तल के अन्तिम तल तक पैठने की उत्कट प्रवृत्ति, और पूरी लगन के साथ किये गए प्रयत्नों द्वारा हुआ।

"इस अनुभव से मैंने पाया कि अधिकांशतः सभ्य मनुष्य बाहरी यथार्थ और भीतरी संस्कारों से जुड़े हुए परम्परागत आदर्शों के बीच तालमेल बिठाने के प्रयत्नों तक ही अपने जीवन-सम्बन्धी ज्ञानान्वेषण को सीमित रखता है और 'ज्ञान' की उतनी ही उपलब्धि से संतुष्ट रहता है। मेरे समय तक औसत दर्जे का उपन्यास-लेखक भी इस सीमा से कभी न तो आगे बढ़ पाया, न उसने से 'ज्ञान' से कभी ऊपर उठने का प्रयत्न ही उसने आवश्यक समझा। मैंने पाया कि वैयक्तिक (और स्वभावतः सामूहिक) जीवन की वास्तविक यथार्थता अत्यन्त जटिल, गहन, दुर्गम और 'गुहाहित' है। उसका असली बोध न तो केवल फ्रायडियन अवचेतना की सतही दुनिया के छिछले ज्ञान से सम्भव है, न केवल परम्परागत धार्मिक और सांस्कृतिक आदर्शों से और न मात्र प्राचीन और नवीन दार्शनिक तत्त्वों से। उसका सही और सीधा बोध यदि किसी हद तक सम्भव है तो वह केवल व्यक्ति द्वारा व्यक्ति की निजी अवचेतना के स्तर-स्तर पर निहित प्रवृत्तियों के निगूढ़ और पूर्णतः पूर्वाग्रह-शून्य, निर्मम विश्लेषण से।

"मैंने पाया कि मूल यथार्थ के तात्त्विक बोध की दिशा में यदि सबसे कठिन, सबसे अधिक मार्मिक पीड़ा-दायक और सबसे अधिक विकट उलझनों से भरा कोई रास्ता है तो वह यही आत्म-विश्लेषण है। यही कारण है कि बड़े से बड़े ज्ञानी इस घोर कण्टकर, झँझटों से भरे और अत्यन्त दुर्गम मार्ग से कतराते हैं और अपनी अवचेतना की सतह से एक-चौथाई या आधा इंच भीतर प्रवेश करने का प्रयत्न करते ही घबराकर बाहर वापस आ जाते हैं, और उस निपट सतही ज्ञान के बल पर यह घोषित करने लगते हैं कि उन्होंने मानवीय अवचेतना का रहस्य पा लिया। फ्रायड ने यही किया था और संसार के बड़े-बड़े नामी-ग्रामी मनोवैज्ञानिकों ने केवल इतनी-सी 'खोज' के बल पर ही अपने को दूसरों की अवचेतना का विश्लेषण करने का पूर्ण अधिकारी मान लिया। शैक्सपीयर और दॉस्तॉएव्स्की जैसे कुछ

इने गिने साहसी तत्त्वदर्शी ही ऐसे हुए हैं जिन्होंने मूल यथार्थ को उसके नग्नतम और अतलतम रूप में जानने के उद्देश्य से पहले स्वयं अपनी अवचेतना का अत्यन्त निर्मम विश्लेषण सतह से लेकर तल तक करने के दुरूह प्रयत्नों में भरसक कोई बात उठा न रखी।

"मेरा यह दावा तनिक भी नहीं है कि मैंने स्वयं अपनी अवचेतना की सतह से लेकर अन्तिम तल तक मथने के प्रयत्नों में पूर्ण सफलता प्राप्त कर ली है। इस दुष्कर काम में पूरी सफलता पा जाना मुझ जैसे अदने लेखक के लिए सम्भव ही नहीं है। तथापि मैं इस प्रयत्न से इतना तो निश्चित रूप से जान गया हूँ कि 'स्वल्प-मप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्'—मूल यथार्थ की गहनता से परिचित होने की दिशा में इस एकमात्र सही रास्ते की ओर जितने भी कदम बढ़ाए जा सकें वे अनन्त उपयोगी सिद्ध होते हैं।

"आपने 'रचना प्रक्रिया के दौरान' की बात पूछी थी और मैंने रचना प्रक्रिया के पहले की बात बतायी है। पर इससे यह न समझें कि मैं विषयान्तर में चला गया हूँ, क्योंकि रचना प्रक्रिया के दौरान भी यथार्थ से सम्बन्धित जो नये-नये रहस्य मेरे आगे उद्घाटित होते चले गए हैं उनके कारणों के मूल में मेरे अन्तर की वही आत्म-विश्लेषणात्मक प्रवृत्ति है। क्योंकि, जैसा कि मैं आभास दे चुका हूँ, दूसरों की अवचेतना का यथार्थ और तात्त्विक विश्लेषण तब तक कभी नहीं हो सकता जब तक आत्म विश्लेषण द्वारा मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की सही पद्धति और प्रक्रिया की जाँच-पड़ताल न की जाए। मुझे 'संन्यासी' की रचना में इस प्रकार की अनुभूति सबसे पहले हुई।"

अगला प्रश्न मैंने जोशीजी के उपन्यासों के 'कच्चे माल' के बारे में किया था, "आपके उपन्यास कुछ मिलाकर असामान्य (एब्नार्मल) मनोविज्ञान के विश्व-कोश कहे जा सकते हैं। इनमें आए पात्रों और उनकी बाहरी-भीतरी स्थितियों की बहुलता एवं विविधता देखकर सहसा यह प्रश्न उठता है कि वे कहाँ तक आपके प्रत्यक्ष अनुभव पर आधारित हैं और कहाँ तक मनोवैज्ञानिक इतिवृत्तों (केस हिस्टरीज) पर।"

मुझे आश्वस्त करते हुए जोशी ने उत्तर दिया, "मेरे उपन्यासों में जितने भी पात्रों का चित्रण हुआ है उनमें से अधिकांश मेरे अनुभवों की परिधि से होकर गुजरे हैं। इसका कारण शायद यह रहा है कि मानवीय अवचेतना के वैविध्यपूर्ण रहस्यों की खोज मुझे नवयौवन के प्रारम्भ से ही अभीष्ट थी। अभीष्ट इसलिए थी कि मैं स्वयं जन्म से ही 'एब्नार्मल' रहा हूँ और इसी कारण अपनी अवचेतना के अनेक स्तरों में निहित अद्भुत और साधारणतः अविश्वसनीय रहस्यजालों में मुझे कई वर्षों तक उलझना रहना पड़ा है। पर उन नाना उलझनों से घिर रहने पर भी मैं घबराया नहीं हूँ, वरन् अपनी किसी रहस्यमयी जन्मजात प्रेरणा से मैं अपने विवेक

को अधिकाधिक पुष्ट करने और अधिक से अधिकतर पैना बनाने के प्रयासों में आरम्भ से ही जुटा रहा हूँ। अपने अन्तर की जटिल मनोवैज्ञानिक उलझनों को मैं अपने अन्तर्व्यक्तित्व की यथार्थता की मूल पृष्ठभूमि मानकर चला हूँ। मेरे विवेक ने मुझे यह समझाया है कि उन उलझनों से घबराने या कतराने से कोई लाभ नहीं हो सकता और उनकी प्रतिक्रिया के फलस्वरूप उनसे क्षुब्ध होना, खीझना या आत्म-विद्रोह करना उनसे मुक्ति का उपाय कभी नहीं हो सकता। मुझे लगा कि सही रास्ता यही हो सकता है कि निर्मम होकर अपनी एक-एक उलझन का विश्लेषण करके, उसके तात्त्विक रूप को समझूँ और अलग-अलग उलझनों को उनके अलग-अलग परिप्रेक्ष्य में देखूँ---फिर चाहे उस प्रक्रिया में मुझे सौ-सौ नरकों की भट्ठियों में क्यों न तपना पड़े। और मैं इस असाध्य प्रयत्न में जुट गया। क्योंकि उलझनें असंख्य थीं, इसलिए मैंने 'स्पेशीज' को न लेकर कुछ ऐसी उलझनों को चुना जो मूलभूत 'जीनस' थी। और तब अपने ही भीतर के आपरेशन टेबल पर अत्यन्त धैर्य के साथ प्रत्येक की चीरफाड़ की। इसका फल यह हुआ कि मेरी घबराहट जाती रही और संत्रास के स्थान पर मैंने जीवन के कुछ मूलभूत आदिम सत्वों को पाया। और तब विश्लेषण के स्थान पर संश्लेषण की बारी आयी, जिसने मुझे नकारात्मक उपलब्धि के स्थान पर जीवन-सम्बन्धी गुणात्मक उपलब्धियों की ओर उन्मुख किया।

"तो मैं कह रहा था कि मानवीय अवचेतना के वैविध्यपूर्ण रहस्यों की खोज मुझे अभीष्ट थी। कारण यह कि मैं अपने 'इन्टीउशन' या सहज ज्ञान से यह समझ गया था कि किसी एक व्यक्ति की अवचेतना की मूल पृष्ठभूमि दूसरे व्यक्तियों की अवचेतना के मूलगत रूप से भिन्न नहीं हो सकती, क्योंकि सामूहिक जीववैज्ञानिक विकास के दौरान मनुष्य-मात्र की अवचेतना में पशु-अवचेतना के तत्त्व समान रूप से पुनर्वासित हुए हैं और समान ही रूप से उनका विकास या ह्रास भी होता आया है। इसलिए अवचेतना के मूलभूत तत्त्व सभी मनुष्यों में समान हैं। अन्तर केवल इतना ही हो सकता है कि विभिन्न व्यक्तियों के विवेक और बुद्धि की विशिष्टता के अनुसार उनके मनोवैज्ञानिक अणुओं के संयोजन और विभाजन अथवा संघटन और विघटन के ग्राफ अलग-अलग बन जाते हैं।

"इन कारणों से मुझे लगा कि यदि अपनी मनोवैज्ञानिक उलझनों का रहस्य ठीक से समझना है तो अपने ही समान या अपने से अधिक 'एब्नार्मल' व्यक्तियों के बाह्य और अन्तर्जीवन के रहस्यों की खोज अनिवार्य रूप से आवश्यक है। तथाकथित 'एब्नार्मल' मनुष्यों की खोज रेगिस्तान में जलाशय या हिमाच्छादित पर्वतों में उबलते हुए पानी के सोतों की खोज की तरह विरल और दुस्साध्य नहीं है। यदि दृष्टि हो तो दैनिक जीवन में भी पग-पग पर आपको ऐसे व्यक्ति मिल सकते हैं। वास्तविकता तो यह है कि 'एब्नार्मलिटी' सभी मनुष्यों में होती है---

केवल परिमाण, रूप, रंग और ढंग में अन्तर होता है। इसलिए 'एब्नार्मल' व्यक्तियों की खोज में मुझे कभी कोई परेशानी नहीं उठानी पड़ी। पर मेरी असली खोज ऐसे व्यक्तियों की थी जो केवल मनोवैज्ञानिक दृष्टि से ही एब्नार्मल नहीं थे, वरन् जिनके जीवन की परिस्थितियाँ और परिवेश भी 'एब्नार्मल' थे, क्योंकि मेरा यह विश्वास रहा है कि असाधारण परिवेश में पली हुई अवचेतना के रहस्य मानव-जीवन के अन्तरीण सत्य को उद्घाटित करने में सबसे अधिक सहायक सिद्ध हो सकते हैं।

"मुझ पर कुछ आलोचक यह आरोप लगाते हैं कि मैंने कुछ तथाकथित 'केस-हिस्टरीज़' लेकर या उन्हें गढ़कर तब उन्हें मनोवैज्ञानिक साँचे में ढाला है। आज वर्षों बाद जब मैं अपनी पुरानी कृतियों की छान बीन करने बैठता हूँ तब मुझे अपने किसी भी उपन्यास के कथानक में कोई पहले से सुनी सुनाई, बनी-बनाई या गढ़ी-छोली 'केस हिस्ट्री' नहीं दिखाई देती। मैंने अपने व्यक्तिगत अनुभवों की परिधि के अन्तर्गत आए हुए कुछ विशिष्ट पात्रों और पात्रियों के बाह्य-परिवेश और अन्त-र्जीवन के जटिल पक्षों को अपना मनोवैज्ञानिक दृष्टि की कसौटी पर कसकर, और अपने युग की नग्न सामाजिक यथार्थता की पृष्ठभूमि में रखकर उन्हें चित्रित करने का प्रयास किया है।"

जोशीजी के उपन्यासों के मूल बिन्दु पर पहुँचकर मैंने प्रश्न उठाया, "आपने अपने उपन्यासों में मनोविज्ञान की अधुनातन उपलब्धियों के सहारे मानव-मन की अतल गहराइयों में उतरकर अपने पात्रों की मनोग्रन्थियों को खोला है और इस प्रकार 'सभ्य' मानव के भीतर की अंध गुफाओं में कार्य कर रहे मूल बर्बर पशु का दिग्दर्शन कराया है। पर क्या मनुष्य का कुत्सित रूप ही उसका समग्र रूप है? मनुष्य के देवत्व को उसका असली रूप मान लेना यदि एक प्रकार का भ्रम है तो उसके पशुत्व को ही सब कुछ मान बैठना क्या दूसरे प्रकार का भ्रम नहीं?"

प्रश्न की मूल भावना को स्वीकारते हुए जोशीजी ने कहा, "मैंने यह कभी न तो कहा और न कहीं प्रमाणित करने का ही प्रयास किया है कि मनुष्य का कुत्सित रूप ही उसका समग्र रूप है। आपकी इस धारणा से मैं पूर्णतः सहमत हूँ कि मनुष्य के तथाकथित देवत्व को उसका असली रूप मान लेना जिस प्रकार भ्रमात्मक है, उसके पशुत्व को ही उसके व्यक्तित्व का प्रधान रूप मान लेना भी उससे कुछ कम भ्रमात्मक नहीं है। पर साथ ही यह भी निश्चित है कि मनुष्य की अवचेतना में निहित उसकी आदिम पशु प्रवृत्तियों को महत्वहीन समझकर उन्हें एकदम दबा देने का प्रयास निपट अज्ञान का द्योतक है और केवल उसके भीतर निहित देवत्व को ही उभारना वैसा ही है जैसे शून्य की भित्ति पर किसी समूर्त आदर्श को खड़ा करना।

"मेरी सदा यह मान्यता रही है कि मनुष्य की अवचेतना में निहित तथाकथित पशुत्व ही उसके अन्तर्व्यक्तित्व का नग्न यथार्थ है और वह नग्न यथार्थ ही उसके जीवन

की नींव है। अवचेतना में स्तर-प्रतिस्तर दबे पड़े उन तथाकथित नारकीय तत्त्वों के मूल आधार पर ही उस 'देवत्व' के छायाभास को रंगों और रेखाओं द्वारा उभार कर मूर्त्त रूप दिया जा सकता है, जो मानव-जीवन का अन्तिम लक्ष्य है। वर्ना, नरक की यथार्थ पृष्ठभूमि के बिना यह 'देवत्व' निराधार और वास्तविकता के स्पर्श से एकदम शून्य रह जाता है। मेरी प्रायः सभी रचनाओं में आपको निरन्तर इसी लक्ष्य की खोज की छटपटाहट मिलेगी।"

कथ्य और शिल्प को आधार बनाकर आलोचकों ने जोशीजी के उपन्यासों पर कई लेबल चिपकाए हैं जो बेकार ही नहीं, भ्रामक भी है। उन्हीं में से एक की चर्चा करते हुए मैंने पूछा था, "आपको फ्रायडीय मनोविज्ञान का समर्थक माना जाता है, पर आपके उपन्यासों को पढ़ने से मुझे लगा है कि मानव-मन की प्रकृति-विकृति के विश्लेषण के लिए साधन के रूप में भले ही आपने फ्रायडीय मनोविश्लेषण की विविध तकनीकों का सहारा लिया हो, पर मूलतः आपका रुझान भारतीय मनोविज्ञान की ओर है। उदाहरणार्थ, गीता के 'प्रकृति यान्ति भूतानि' (३-३३) की सर्वोत्तम व्याख्या आपके उपन्यास 'जहाज के पंछी' में हुई है। इसी प्रकार, 'जिप्सी' में आपने 'हिप्नॉटिज़्म' के प्रति जो सहज धारणा व्यक्त की है, वह भी निस्संदेह भारतीय ही है : 'हिप्नॉटिज़्म की जो कला वास्तविक रूप से प्रभावोत्पादक सिद्ध होती है वह कुछ विशिष्ट बाह्य-नियमों के यथारूप पालन से सच्चे रूप में फलित नहीं होती। प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में कुछ विशेष असाधारण क्षण ऐसे आते हैं जब अन्तश्चेतना का कोई विशेष सुप्त भाग सहसा स्वतः जागृत हो उठता है, और इस उदात्त अवस्था में वह इच्छित व्यक्ति पर जैसा भी प्रभाव डालना चाहता है, उसमें निश्चित रूप से सफल होता है। तब जो भी आदेश उसके भीतर से निकलता है उसे अमान्य करने की शक्ति विरले योगनिष्ठ व्यक्ति में ही होती है।' ये और इस तरह के अनेक स्थल इस बात की गवाही देते हैं कि पाश्चात्य मनोविज्ञान की उपलब्धियाँ आपके चेतन को ही प्रभावित कर सकी है। संस्कारतः आपकी आस्था भारतीय मनोविज्ञान में है जो मूलतः संश्लेषणात्मक है—विश्लेषण को अपनाता भी है तो अन्ततः संश्लेषण के लिए। मेरा ऐसा सोचना कहाँ तक ठीक है ?"

फ्रायडीय मनोविज्ञान ही क्यों, मनोविज्ञान-मात्र की अपूर्णता का संकेत करते हुए जोशीजी ने कहा, "मैं पहले ही बता चुका हूँ कि मनोविज्ञान सम्बन्धी अध्ययन की आकुलता मुझ में जन्मजात रही है। इसका सम्भावित कारण भी मैं बता चुका हूँ कि अपनी निजी मनोवैज्ञानिक उलझनों से मुक्ति पाने की छटपटाहट ने ही मुझे इस विषय के अध्ययन के लिए प्रेरित किया। फ्रायड ही मेरे उस अध्ययन का प्रथम सोपान था। मैं उसे छोड़ नहीं सकता था। इसलिए मैंने प्रारम्भ में फ्रायड और उसी युग के दूसरे पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों की मान्यताओं का अध्ययन

गहराई और बारीकी से किया। उस अध्ययन से मुझे विशेष लाभ तो नहीं हुआ, पर एक सूत्र अवश्य मिल गया। अपने और अपने आस पास के व्यक्तियों के जीवन के निकटतम और सूक्ष्म अध्ययन में मुझे लगा कि फ्रायड का मनोविज्ञान इस जटिल विषय की तह में पैठने के लिए एक आधार बिंदु तो अवश्य देता है, पर अपने आप में वह न तो कोई समाधान है और न जीवन और मानव-मन की गहराइयों का ही वह छू पाता है।

"उम्र बढ़ने के साथ ही ज्यों ज्यों जीवन और मानव-मन सम्बन्धी मेरे अनुभव बढ़ते चले गए त्यों त्यों मैं यह महसूस करता चला गया कि मानव-जीवन और मानव मन की जटिलताएँ अद्भुत रहस्यमयी, असत्य और बहुमुखी हैं। प्रचलित पाश्चात्य मनोवैश्लेषिक सिद्धान्तों के आधार पर यदि किसी एक का 'समाधान' किसी हद तक प्राप्त हो जाए तो उसी समाधान में से असख्य दूसरे प्रश्न और उलझनें उत्पन्न होती जाती हैं—रक्तबीज की तरह। इसलिए हताश होकर मैंने मनोविज्ञान सम्बन्धी सिद्धान्तों के सारे पचड़े को उठाकर ताक पर रख दिया और अपने निजी सहजबोध से और जीवन-सम्बन्धी प्रत्यक्ष अनुभवों के आधार पर इस विषय में खोज करने लगा। साथ ही इस सम्बन्ध में पेशेवर मनोवैज्ञानिकों की अपेक्षा मुझे प्राच्य और पाश्चात्य जगत् के कुछ विशिष्ट और विराट् प्रतिभाशाली कवियों, नाटककारों और उपन्यास लेखकों की कृतियों से जीवन की बहुमुखी धाराओं और उसकी गहनता का अधिक बोध हुआ और अपनी खोज में सही दिशा की समुचित पथ रेखा भी मेरे आगे स्पष्ट हुई।

"इन सब कारणों से आपके आगे यह बात स्पष्ट हो जाएगी कि जीवन, जगत् और मानवीय अवचेतना सम्बन्धी मेरी अपनी खोज में ये तीनों तथ्य सहायक सिद्ध हुए हैं—(१) फ्रायड, युग आदि पेशेवर मनोवैज्ञानिकों की कृतियों से सतही ज्ञान, (२) जीवन की विराटता के प्रत्यक्ष द्रष्टा कलाकारों की रचनाओं से गहनतर ज्ञान और (३) एक प्रत्यक्ष रूप से जीवन के नग्नतम और कटुतम अनुभवों से प्राप्त मूल प्रेरणादायक ज्ञान।

"रही संश्लेषण की बात। मैंने कभी विश्लेषण के लिए विश्लेषण को नहीं अपनाया—क्योंकि वह एक निरर्थक और लक्ष्यहीन प्रयास होता है। मेरा मूल उद्देश्य बराबर संश्लेषण ही रहा है।

"भारतीय संस्कृति और भारतीय ज्ञान की मूलधारा का गहरा प्रभाव मुझ पर पड़ा है—इस कारण नहीं कि वह 'भारतीय' है, वरन् इसलिए कि व्यक्ति की चेतनात्मक समग्रता का पूर्ण और सम्यक् बोध केवल उसी संस्कृति से सम्भव है।"

कथ्य की दृष्टि से, 'जहाज का पंछी' जोशीजी का बेजोड़ उपन्यास है। हर किसी ने इसकी प्रशंसा की है। पर मुझे इसका उपन्यासत्व पुष्ट नहीं लगा। इसलिए मैंने पूछा, "आपके उपन्यास 'जहाज का पंछी' के कथ्य ने मुझे सर्वाधिक

आकृष्ट किया है। उसके नायक का चरित्र गीता की 'सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि' की धारणा को चरितार्थ करता है। वह जीवन और जगत् की विविध स्थितियों में से गुजरता है, पर उसके भीतर कुछ ऐसा है जो उसे निरन्तर बेचैन किए रहता है और किसी भी व्यक्ति या स्थिति से उसका सामंजस्य नहीं बैठने देता और वह 'जहाज के पंछी' की तरह बार-बार अपनी मूल प्रकृति में सिमिट आता है। कथ्य की इस मूलभूत पकड़ के बावजूद कुछ लोगों का कहना है कि उपन्यास के रूप में यह कृति बड़ी कमजोर है। इसमें कला और मनोविज्ञान आपस में घुल-मिलकर एकप्राण नहीं हो पाते, बल्कि अलग खड़े एक-दूसरे को ताकते रहते हैं। इसे कला और विज्ञान का वैमनस्य माना जाए या इसके स्रष्टा की मजबूरी?"

जोशीजी ने इस प्रश्न का दो टूक उत्तर दिया, " 'जहाज का पंछी' एकदम भिन्न प्रकृति की रचना है। मनोवैज्ञानिक विश्लेषण से उसका कोई सम्बन्ध नहीं। वह रचना आपके कथनानुसार, बहुत कमजोर हो सकती है, पर है वह आज के जीवन की घोर विकट यथार्थता के वात्याचक्र के बीच, मेरे जीवन-सम्बन्धी अनुभवों की समग्रता को लिए हुए, मेरी परिपक्वतम अनुभूतियों की नींव पर खड़ी।"

अगला प्रश्न मैंने जोशीजी के नारी पात्रों के विषय में किया : "पुरुष द्वारा नारी के शोषण के विविध रूपों का चित्रण करते हुए आपने अपने उपन्यासों में नारी की मुक्ति के लिए बड़े ज़ोर की आवाज उठाई है। 'प्रेत और छाया' की मंजरी से लेकर 'मुक्तिपथ' की सुनन्दा तक सभी नायिकाएँ पुरुष के प्रति आग उगलती हैं, 'पुरुष चाहे कितना ही महान् क्यों न हो, उसका यह युग-युग का संस्कार मिटना नहीं चाहता कि नारी व्यक्ति से भी कम है, उसके अपने स्वतन्त्र व्यक्तित्व का कोई प्रश्न ही नहीं उठता।' पर, मैं समझता हूँ, पुरुष के प्रति आग उगलने भर से नारी की मुक्ति का द्वार नहीं खुल जाता। पुरुष का संस्कार उससे नारी के अधिकार की उपेक्षा करवाता है तो नारी भी अपने संस्कार से मजबूर होकर ही बार-बार उसका आश्रय ढूँढ़ती है। वह आश्रय और अधिकार दोनों एक-साथ पाना चाहती है। नहीं मिलते तो उलाहना देती है, 'कई पीढ़ियों से बंजर पड़ी हुई जमीन तुम्हारे राजीव बाबू के कर्मोद्यम से आज लहलहा रही है, पर मेरे भीतर की जमीन एकदम सूखी और सूनी पड़ी है। बालू, केवल बालू। पानी की बूंद भी कहीं नहीं है—हरियाली की कौन कहे।' क्या ऐसा सोचना गलत होगा कि पुरुष के शोषण से मुक्त होने की चेष्टा करने से पहले नारी को अपने भीतर गहरे जमे सदियों की दासता के संस्कारों से मुक्ति पानी होगी?"

नारी की मुक्ति का उपाय सुझाते हुए जोशीजी ने उत्तर दिया, "सब से पहले आवश्यकता इस बात की है कि नारी अपनी पराधीनता और दासता के लम्बे

इतिहास से अच्छी तरह परिचित हो सके। वह तटस्थ होकर गहराई से यह समझने की कोशिश करे कि सदियों की ऐतिहासिक और सामाजिक प्रक्रिया के बीच उसकी स्थिति क्या रही है और उसका शोषण क्या हुआ। उसके बाद वह अपनी जाति की मूलभूत मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि का सम्यक् और गहन अनुभव प्राप्त करे और साथ ही पुरुष-जाति के मनोवैज्ञानिक गठन का भी गहरा अध्ययन करे। तभी वह अपनी स्वतन्त्र प्रगति के उद्देश्य से कोई ठोस और निश्चित कदम उठा सकने में समर्थ हो सकेगी।

अपने विभिन्न उपन्यासों में मैंने आज की नारी के भीतर अलक्ष्य में उभरते और पनपते हुए विद्रोहात्मक बीजों को प्रकाश में लाने का प्रयास किया है। वे बीज आज की नारी की अवचेतना में निश्चित रूप से से पनप रहे हैं, यद्यपि अभी वे एकदम प्रारम्भिक स्थिति में हैं। उन अधखिले बीजों को उपयुक्त जमीन में लाकर उन्हें समुचित खाद की सहायता से उगाने और उगाकर उन्हें अन्तिम और सफल परिणति तक पहुँचाने का कर्तव्य आज के तात्त्विक, यथार्थ द्रष्टा और अनुभूतिशील लेखकों का है। मैं अपने कर्तव्य का पालन यथासामर्थ्य कर चुका हूँ।"

शरत् की नारी भावना से जोशी जी के नारी पात्रों की तुलना करते हुए मैंने पूछा, "शरत् के उपन्यासों के विषय में आपने 'विवेचना' में लिखा है, 'शरच्चन्द्र का एकमात्र उद्देश्य अकर्मण्य, आलसी, आत्मकेन्द्रित और चरित्रहीन नायकों के अधःपतन को गौरवान्वित करना रहा है उनके उपन्यासों में भग्न प्रेम की मोहमयी खुमारी अहंभाव को पुष्ट करने वाले आदर्शवादी जीवन-दर्शन की परिचायक है। वह सुलाने वाली लोरी है, जगाने वाला शंखनाद नहीं।' शरत् ने अपने पात्रों की विकृतियों को गौरवान्वित किया है तो आपने अपने कथा नायकों की सारी विकृतियों का मूल उनकी मनोग्रन्थियों में खोज कर उनके चरित्र विकास की अनिवार्य परिणति, यानी उनकी नियति, सिद्ध किया है। शरत् ने अपने चरित्रहीन नायकों को एक प्रकार से दोषमुक्त किया है तो आपने दूसरे प्रकार से—मनोविज्ञान का नियतिवाद (डिटर्मिनिज्म) व्यक्ति की आत्मसुधार की इच्छा को पनपने नहीं, काटता है। फिर, व्यक्ति जगेगा कैसे?"

मेरे आक्षेप की गहरी खुदाई करते हुए जोशी जी ने कहा, "मैंने मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया को कभी किसी निश्चित नियति के ढाँचे में बद्ध नहीं माना है। यह ठीक है कि एक विशेष सीमा तक मनोविज्ञान के कुछ निश्चित नियम होते हैं, पर मनुष्य की मूल प्रकृति किसी भी मनोवैज्ञानिक नियति से इस हद तक ग्रस्त नहीं है कि वह अन्त तक उसकी दासता के पाश में बँधी रहे। मैं मनुष्य को मूलतः किसी भी नियति से ऊँचा और स्वतन्त्र मानता हूँ। मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की यदि कोई सार्थकता हो सकती है तो केवल इसी बात पर कि वह मनुष्य की अन-

रात्मा को मनोवैज्ञानिक ग्रंथियों की दासता से मुक्त करने में सहायक सिद्ध हो सकती है। मनोवैज्ञानिक दासता मनुष्य की नियति का अपरिहार्य अंग नहीं है। अधिक से अधिक वह उसी तरह की विवशता की एक किस्म हो सकती है जिसे बच्चा अपनी अविकसित शक्तियों से छटपटाने की प्रक्रिया में अपने अज्ञात में महसूस करता है। बच्चा धीरे-धीरे बड़ा होता जाता है और निरन्तर अपने भीतर बीज-रूप में निहित शारीरिक और मानसिक शक्तियों का विकास करता जाता है—अर्थात् वह अपनी नियति को निरन्तर बदलते रहने के प्रयास में जुटा रहता है। विकास के दौरान भी वह अनेक मनोवैज्ञानिक ग्रंथियों से मुक्त नहीं हो पाता पर निरन्तर अपने सहज ज्ञान और स्वतंत्र चेतना के विकास में सचेष्ट रहने पर वह अपनी मनोवैज्ञानिक नियति के जाल को धीरे-धीरे काट सकता है, और लगन यदि और अधिक तीव्र हो तो वह पूर्णतः कुंठा-मुक्त होकर अपनी मानसिक ग्रंथियों को केवल पूरी तरह खोलने में ही समर्थ नहीं होता, वरन् अपनी अवचेतना को पूर्णतः अपने नियंत्रण में रख सकने में भी समर्थ हो सकता है। इस तथ्य की यथार्थता के प्रमाण अनेक प्रतिभाशाली व्यक्तियों के जीवन-विकास-क्रम के इतिहास से मिल सकते हैं।

"इसीलिए मैं कह रहा था कि मनुष्य अपनी नियति के किसी भी रूप से (चाहे वह मनोवैज्ञानिक हो या कायिक) बहुत बड़ा है। और इसी सत्य को एक स्वयंसिद्धि की तरह अनुभव करते हुए मैंने अवचेतना में निहित 'नारकीय' तत्त्वों के विश्लेषण और उन्हीं तत्त्वों के पुनर्मार्जन द्वारा यह दावा किया है कि सही दिशा में चलने से मनुष्य अपनी मानसिक ग्रंथियों से मुक्ति पाकर यथार्थ मनुष्यत्व की ओर कदम बढ़ा सकता है। शरत् से मेरा विरोध केवल इसी बात पर रहा है कि उन्होंने व्यक्ति की मनोवैज्ञानिक विकृतियों पर एक गलत रूमानी रंग चढ़ाकर उन्हें गौरवान्वित करने का प्रयास किया है, जब कि रूमानियत से अधिक आवश्यकता इस बात की थी कि उन विद्रोहमूलक विकृतियों की यथार्थ और तात्त्विक मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि पर फावड़े चलाकर एक नयी जमीन तोड़ी जाती और उनके असली रहस्य को समझने का प्रयास किया जाता, क्योंकि व्यक्ति की अवचेतना की मूल पृष्ठभूमि को समझे बिना अन्तर्व्यक्तित्व का यथार्थ और निरावरण रूप सामने नहीं आ सकता। और यदि अन्तर्व्यक्तित्व का ही सही चित्र सामने न हो तो रूमानी मायाजाल में भटकने के सिवा कोई ठोस उपलब्धि संभव नहीं हो सकती।

"इस सिलसिले में एक बात की ओर मैं आपका ध्यान और दिलाना चाहूँगा कि मैं व्यक्तिगत रूप से रूमानियत-मात्र का विरोधी नहीं हूँ। रूमानी प्रवृत्ति अपने उन्नततम रूप अन्तर्व्यक्तित्व के स्वस्थ और चरम उत्कर्ष की निशानी है। पर जब तक व्यक्ति अपनी मनोवैज्ञानिक नियति से मुक्त होकर उससे ऊपर-उठ नहीं

इतिहास से अच्छी तरह परिचित हो सके। वह तटस्थ होकर गहराई से यह समझने की कोशिश करे कि सदियों की ऐतिहासिक और सामाजिक प्रक्रिया के बीच उसकी स्थिति क्या रही है और उसका शोषण क्यों हुआ। उसके बाद वह अपनी जाति की मूलभूत मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि का सम्यक् और गहन अनुभव प्राप्त करे और साथ ही पुरुष-जाति के मनोवैज्ञानिक गठन का भी गहरा अध्ययन करे। तभी वह अपनी स्वतंत्र प्रगति के उद्देश्य से कोई ठोस और निश्चित कदम उठा सकने में समर्थ हो सकेगी।

"अपने विभिन्न उपन्यासों में मैंने आज की नारी के भीतर अलक्ष्य में उभरते और पनपते हुए विद्रोहात्मक बीजों को प्रकाश में लाने का प्रयास किया है। वे बीज आज की नारी की अवचेतना में निश्चित रूप से से पनप रहे हैं, यद्यपि अभी वे एकदम प्रारंभिक स्थिति में हैं। उन अधछिपे बीजों को उपयुक्त जमीन में बोकर उन्हें समुचित खाद की सहायता से उगाने और उगाकर उन्हें अंतिम और सफल परिणति तक पहुँचाने का कर्तव्य आज के तात्त्विक, यथार्थ द्रष्टा और अनुभूतिशील लेखकों का है। मैं अपने कर्तव्य का पालन यथासामर्थ्य कर चुका हूँ।"

शरत् की नारी भावना से जोशी जी के नारी पात्रों की तुलना करते हुए मैंने पूछा, "शरत् के उपन्यासों के विषय में आपने 'विवेचना' में लिखा है, 'शरच्चन्द्र का एकमात्र उद्देश्य अकर्मण्य, आलसी, आत्मकेंद्रित और चरित्रहीन नायकों के अध:पतन का गौरवान्वित करना रहा है उनके उपन्यासों में भग्न प्रेम की मोहमयी खुमारी अहंभाव को पुष्ट करने वाले आदर्शवादी जीवन-दर्शन की परिचायक है। वह सुलाने वाला लोरी है, जगाने वाला शंखनाद नहीं।' शरत् ने अपने पात्रों की विकृतियों का गौरवान्वित किया है तो आपने अपने कथा नायकों की सारी विकृतियों का मूल उनकी मनोग्रन्थियों में खोज कर उनके चरित्र विकास की अनिवार्य परिणति, यानी उनकी नियति, सिद्ध किया है। शरत् ने अपने चरित्रहीन नायकों का एक प्रकार से दोषमुक्त किया है तो आपने दूसरे प्रकार से—मनोविज्ञान का नियतिवाद (डिटर्मिनिज्म) व्यक्ति की आत्मसुधार की इच्छा को पालता नहीं, काटता है। फिर, व्यक्ति जागेगा कैसे ?"

मेरे आक्षेप की गहरी खुदाई करते हुए जोशी जी ने कहा, "मैंने मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया को कभी किसी निश्चित नियति के ढाँचे में बंद नहीं माना है। यह ठीक है कि एक विशेष सीमा तक मनोविज्ञान के कुछ निश्चित नियम होते हैं, पर मनुष्य की मूल प्रकृति किसी भी मनोवैज्ञानिक नियति से इस हद तक ग्रस्त नहीं है कि वह अन्त तक उसकी दासता के पाश में बँधी रहे। मैं मनुष्य को मूलतः किसी भी नियति से ऊँचा और स्वतन्त्र मानता हूँ। मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की यदि कोई सार्थकता हो सकती है तो केवल इसी बात पर कि वह मनुष्य को अन्त-

रात्मा को मनोवैज्ञानिक ग्रंथियों की दासता से मुक्त करने में सहायक सिद्ध हो सकती है। मनोवैज्ञानिक दासता मनुष्य की नियति का अपरिहार्य अंग नहीं है। अधिक से अधिक वह उसी तरह की विवशता की एक किस्म हो सकती है जिसे बच्चा अपनी अविकसित शक्तियों से छटपटाने की प्रक्रिया में अपने अज्ञात में महसूस करता है। बच्चा धीरे-धीरे बड़ा होता जाता है और निरन्तर अपने भीतर बीज-रूप में निहित शरीरिक और मानसिक शक्तियों का विकास करता जाता है—अर्थात् वह अपनी नियति को निरन्तर बदलते रहने के प्रयास में जुटा रहता है। विकास के दौरान भी वह अनेक मनोवैज्ञानिक ग्रंथियों से मुक्त नहीं हो पाता पर निरन्तर अपने सहज ज्ञान और स्वतंत्र चेतना के विकास में सचेष्ट रहने पर वह अपनी मनोवैज्ञानिक नियति के जाल को धीरे-धीरे काट सकता है, और लगन यदि और अधिक तीव्र हो तो वह पूर्णतः कुंठा-मुक्त होकर अपनी मानसिक ग्रंथियों को केवल पूरी तरह खोलने में ही समर्थ नहीं होता, वरन् अपनी अवचेतना को पूर्णतः अपने नियंत्रण में रख सकने में भी समर्थ हो सकता है। इस तथ्य की यथार्थता के प्रमाण अनेक प्रतिभाशाली व्यक्तियों के जीवन-विकास-क्रम के इतिहास से मिल सकते हैं।

"इसीलिए मैं कह रहा था कि मनुष्य अपनी नियति के किसी भी रूप से (चाहे वह मनोवैज्ञानिक हो या कायिक) बहुत बड़ा है। और इसी सत्य को एक स्वयंसिद्धि की तरह अनुभव करते हुए मैंने अवचेतना में निहित 'नारकीय' तत्त्वों के विश्लेषण और उन्हीं तत्त्वों के पुनर्मार्जन द्वारा यह दावा किया है कि सही दिशा में चलने से मनुष्य अपनी मानसिक ग्रंथियों से मुक्ति पाकर यथार्थ मनुष्यत्व की ओर कदम बढ़ा सकता है। शरत् से मेरा विरोध केवल इसी बात पर रहा है कि उन्होंने व्यक्ति की मनोवैज्ञानिक विकृतियों पर एक गलत रूमानी रंग चढ़ाकर उन्हें गौरवान्वित करने का प्रयास किया है, जब कि रूमानियत से अधिक आवश्यकता इस बात की थी कि उन विद्रोहमूलक विकृतियों की यथार्थ और तात्त्विक मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि पर फावड़े चलाकर एक नयी जमीन तोड़ी जाती और उनके असली रहस्य को समझने का प्रयास किया जाता, क्योंकि व्यक्ति की अवचेतना की मूल पृष्ठभूमि को समझे बिना अन्तर्व्यक्तित्व का यथार्थ और निरावरण रूप सामने नहीं आ सकता। और यदि अन्तर्व्यक्तित्व का ही सही चित्र सामने न हो तो रूमानी मायाजाल में भटकने के सिवा कोई ठोस उपलब्धि संभव नहीं हो सकती।

"इस सिलसिले में एक बात की ओर मैं आपका ध्यान और दिलाना चाहूँगा कि मैं व्यक्तिगत रूप से रूमानियत-मात्र का विरोधी नहीं हूँ। रूमानी प्रवृति अपने उन्नततम रूप अन्तर्व्यक्तित्व के स्वस्थ और चरम उत्कर्ष की निशानी है। पर जब तक व्यक्ति अपनी मनोवैज्ञानिक नियति से मुक्त होकर उससे ऊपर उठ नहीं

जाता, तब तक वह रूमानियत एक ऐसे घातक विष का काम करती है जो व्यक्ति के ग्रन्तव्यक्तित्व को गलनशील बना देता है, जिसके फलस्वरूप व्यक्ति में ग्रपनी मनोवैज्ञानिक विवशता से मुक्ति की छटपटाहट के लिए भी शक्ति शेष नहीं रह जाती।"

२१ ८-१९६७]

०

श्री जी० शंकर कुरुप

पुरुष, प्रकृति और पुरस्कार

आज जीवन और जगत् के सभी मूल्य अर्थ में सिमिट आए है और आर्थिक मूल्य ही एकमात्र जीवन-मूल्य बन बैठे हैं। ऐसी स्थिति में पुरस्कार का महत्त्व यदि उसके साथ लगी धन-राशि से आँका जाने लगे तो आश्चर्य की बात नहीं। तभी तो भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा 'ओटक्कुषल' के पुरस्कृत होने की घोषणा के साथ ही महाकवि शंकर कुरुप का यश केरल को पार करके देश भर में फैल गया और वे मलयालम मात्र के कवि न रहकर माँ भारती के अनन्य सेवक के रूप में विख्यात हो गए। उनके इस काव्य-संग्रह के हिन्दी-रूपान्तर 'बाँसुरी' के प्रकाशित होने पर यह बात और भी उजागर हो गई कि स्वार्थ भले ही उत्तर और दक्षिण में भेद करता फिरे, साहित्य के स्तर पर समूचा राष्ट्र एक और अविभाज्य है।

'बाँसुरी' को पढ़ते समय मैं मुग्ध तो हुआ ही, पर मन में अनेक जिज्ञासाएँ भी उठीं। पुरस्कार-अभिनन्दन-समारोह के अवसर पर जब महाकवि दिल्ली आए तब उनसे भेंट तो हुई पर शंका-समाधान का अवसर न मिल पाया। एक दिन जिज्ञासाओं ने जो जोर मारा, मैंने उन्हें कुरुपजी के पास लिख भेजा। मेरा पहला प्रश्न था, "आप किन बाहरी अथवा भीतरी विवशताओं से काव्य-सृजन की ओर प्रवृत्त होते हैं?"

अपनी काव्य-प्रेरणाओं को पकड़ने की चेष्टा में कुरुपजी ने उत्तर दिया, "मैं इस सामान्य सिद्धान्त पर विश्वास करता हूँ कि आत्माभिव्यक्ति ही कला है। कलाकार की अन्तर्लीन शक्ति भावों के अतिरेक तथा भावनाओं के ज्वार-भाटों को नया रूप एवं नया अर्थ प्रदान करती है। किन्तु ये भावना, स्मृति, इच्छा आदि आन्तरिक धर्म आत्मातिरिक्त किसी दूसरे संदर्भ का संपर्क पाकर ही उन्मीलित होते है। फूलों में सुगंधि सोई हुई है किन्तु विकस्वर बनानेवाले प्रकाश के संस्पर्श से ही उसका जागरण होता है। आजकल साहित्य-समालोचना के क्षेत्र में 'सब्जक्ट-ऑब्जक्ट रिलेशन' का नारा बुलन्द हो गया है। कुछ लोग सोचते हैं कि इस नये शब्द के प्रयोग से वे कुछ नई महत्त्वपूर्ण एवं शक्ति-सम्पन्न भाववीचियाँ प्रसारित करने में सफल हो गए हैं। नये शब्द नये आशयों के संदेशवाहक बनने में हमेशा सफल रहें, यह कदापि सम्भव नहीं। वस्तुतः उस पुराने 'विषयि-विषय सन्निकर्ष'

के सिवा और क्या हो सकता है यह 'सब्जक्ट ऑब्जक्ट रिलेशन'। असल में यह मानव के वास्तविक बोध सम्बन्धी प्राथमिक तत्त्व के सिवा और कुछ नहीं।

"इन्द्रियों के जरिये मानव की अन्तश्चेतना में प्रकृति अपने वास्तविक रूप को 'प्रोजक्ट' कर देती है। ठीक इसी तरह मानव की भावनाओं का प्रकृति की ओर भी 'प्रोजक्शन' होता है। पहली प्रक्रिया में केवल वस्तु-सत्य का दर्शन होता है। दूसरी में भावना-मण्डित विशिष्ट रूप एवं विशिष्ट अर्थ के साथ-साथ कविहृदय का निजी 'लिमेचर' भी परिलक्षित होता है। दियासलाई की तीली में जो ज्वाला उद्भूत होती है, वह उसी तीली में व्याप्त होती है और उसी में प्रज्वलित होती है। अन्तर्मन की निगूढ़ता में कभी-कभी एक ही कुछ भावों का आकस्मिक स्फुरण भी होता है। चाहें तो आप इन्हें क्षण-प्रभ या क्षण-सुन्दर कह सकते हैं। यह सच है कि इनमें से कोई महान प्रकाश पैदा नहीं हो सकता। फिर भी उसकी दीप्ति बाहरी सत्य को एक नया रंग प्रदान करती है और एक नया दर्शन सुसाध्य कर देती है।

'किन्तु वही ज्वाला जब बाहरी वस्तुओं पर सुलगती है तो वे इसकी शक्ति-पूर्ण ज्वलन प्रक्रिया में सहायक हो जाती हैं। तब वह सत्य-दर्शन को अधिक प्रस्फुट करती है। भावगीतियों और दूसरी कोटि के काव्यों के बीच का मौलिक अन्तर यही है। सब तरह की विशिष्ट कलाकृतियों के उद्गम को 'रोमांटिक' कहने का कारण भी यही है। जहाँ तक मेरे अनुभव की बात है, मेरी अपनी स्मृतियाँ, चारों ओर घटित होनेवाली सामाजिक एवं राजनीतिक, किन्तु 'ह्यूमन सिग्नि-फिकेन्स' से भरी, घटनाएँ आदि व्यक्तिगत एवं बाहरी सदर्भों से उत्थापित, दोनों तरह के भाव काव्य रचना की उत्पादिका हुआ करते हैं।"

मेरा अगला प्रश्न था, "आप काव्य-रचना का चरमोद्देश्य क्या मानते हैं?" इसका उत्तर कृष्णजी ने यों दिया "आत्माभिव्यक्ति ही कविता का पहला लक्ष्य है—अपने हृदय की प्रतिच्छाया को अपनी ही आँखों से देखने की अदम्य अभि-लाषा। अपनी आत्मा के प्रतिबिम्ब को पुत्र के चेहरे पर देखने वाले पिता के मन में जो निर्वृत्ति पैदा होती है, ठीक वैसी ही यह अनुभूति होती है। अमरत्व को प्राप्त करने की अभिलाषा भी काव्य-सृजन के पीछे अबोधपूर्वक काम करती है। समष्टि हृदय से सहानुभूतिपूर्वक तादात्म्य स्थापित करने की त्वरा को मैं काव्य रचना प्रक्रिया का मौलिक एवं महत्त्वपूर्ण लक्ष्य मानता हूँ। मैं तो यहाँ तक कहूँगा कि यही भावात्मक एकता कला का सामाजिक मूल्य है।

"एक उदाहरण से इस बात को और स्पष्ट कर सकता हूँ। शहीद चन्द्रशेखर आजाद की ही बात लीजिए। वे एक 'टेररिस्ट' थे। 'टेररिज्म' मेरे लिए मान्य नहीं। फिर भी देश के समस्त दुःख को स्वयं पी लेनेवाला, देश की विमुक्ति के लिए हँसते हुए अपने प्राणों की आहुति देनेवाला वह पौरुषपूर्ण साहस, और उस

साहस के पीछे स्पंदित होनेवाला वह अचंचल हृदय एवं प्रोज्वल व्यक्ति—अगर मैं इस विषय को लेकर काव्य-निर्माण करता हूँ तो इसका यही अर्थ होगा कि मैं उस भावाभिव्यक्ति के जरिए समष्टि-हृदय के साथ सहानुभूतिपूर्ण तादात्म्य स्थापित करता हूँ। यही मेरी राय में साहित्य है और इसके अभाव में कविता चिरस्थायी नहीं हो सकती।

"जैसा कि मैंने पहले ही कहा है, अनश्वरता को प्राप्त करने की अभिलाषा मानवमात्र के लिए जन्मज है। मार्ग तो कई हो सकते हैं—कुछ भी और सरल भी। अपनी-अपनी प्रतिभा और व्यक्तित्व के अनुसार मनुष्य इनमें से कोई एक चुन लेता है। किन्तु कवि तो सौन्दर्य एवं नादलय के सुन्दर किन्तु आयास रहित मार्ग से आगे बढ़ता है और शब्दों में अपनी अन्तश्चेतना को प्राप्त कर लेता है। अपनी अनुपम प्रतिभाशक्ति की देन से समष्टि-हृदय को उद्दीप्त, उन्नयित एवं सुसंस्कृत करने में भी वह समर्थ होता है। किन्तु यह बात विशेष रूप से कहनी पड़ती है कि उपर्युक्त लक्ष्य को साधने के लिए कवि बोधपूर्वक कुछ भी नहीं करता।"

कुरुपजी की रचना-प्रक्रिया जानने के लिए मैंने प्रश्न किया, "रचना-प्रक्रिया के दौरान क्या आपको कभी ऐसा भी लगा है कि बाहर और भीतर की यथार्थ-ताओं के पहले से लगाए गए अर्थ फीके पड़ने लगे हैं और आपको सत्य के निकट से निकटतर पहुँचने का आभास मिल रहा है? यदि हाँ तो कृपाया बताएँ, अपनी किस कृति में आपको इस प्रकार की अनुभूति सर्वाधिक हुई है?"

अपने भीतर गहरे उतरते हुए कुरुपजी बोले, "हाँ, काव्य-रचना की वेला में ऐसी कुछ अनुभूतियों के साक्षात्कार करने का मुझे सौभाग्य प्राप्त हुआ है। मेरी सुदीर्घ कविता 'विश्वदर्शन' इसका उदाहरण है। जब मैं कविता रचने बैठा तो इस विराट विश्व के दर्शन से उत्पन्न अद्भुत एवं कुछ वैज्ञानिक तथा दार्शनिक धारणाएँ—बस यही मेरे मन में था। ठीक वैसे ही जैसे कि सद्यस्फुटित अँकुर के दो दल। किन्तु वे तो बीजावरण को भेद कर बाहरी आलोक की ओर उन्मुख होने में ही सहायक हो सकते थे। संक्षेप में, कविता का समारम्भ सामान्य तल से ही हुआ। किन्तु इस छोटी-सी परिधि के भीतर इतना विशाल भाव-मंडल तथा दीप्त-दर्शन अन्तर्लीन पड़ा हुआ है, ऐसा मैंने उस समय नहीं सोचा था। अकस्मात् मुझे एक हृदय के संकोच-विकास के समान आदि केन्द्र का तथा एक अनादि चैतन्य प्रवाह के समान, ब्रह्मांड-कोटियों के आवर्त-विवर्तों से भरी अनन्त गति के समान जीवन का दर्शन हुआ। इस दर्शन से सहसा मेरी भावना उद्बुद्ध हुई और वह स्वयं मुझको लेकर उड़ी। सृष्टि, उसकी विकास-प्रकिया में अन्तःकरण का आकस्मिक आविर्भाव, उसमें सर्गशक्ति का दर्प, प्रतीक्षा, उसका स्वतन्त्र एवं जाग-तिक सत्य के लिए अनथीत व्यापार, अन्तःकरण के विकास के साथ-साथ सत्य, सौन्दर्य, धर्म का विकास आदि कई महत्त्वपूर्ण बातें अप्रत्याशित रूप से मन में

उभरने लगी। मुझे प्रतिभास हुआ कि प्रकृति के पीछे विद्यमान इस डिजाइन को पाप-पुण्य, सुख-दुःख आदि की मनमानी कल्पनाओं के द्वारा मनुष्य नहीं मानता। यही कारण है कि वह चिल्लाकर कहता है, कोई 'पपस' नहीं। कोई 'मोरल' नहीं। सत्य तो यह है कि पाप-पुण्य, सुख-दुःख, सत्य-सौन्दर्य आदि मानव के स्वतन्त्र-अन्तःकरण की परिधि में ही आता है। जब स्वतन्त्र अन्तःकरण दे दिया तो विश्व के पीछे विद्यमान उस सनातन आदि केन्द्र को, उस 'क्रियेटिव पपस' को इसकी कोई जिम्मेदारी नहीं रही।

"यह सच है कि लोहा आग में तपता है, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं हो सकता कि लुहार के मन में दया भाव का सर्वथा अभाव है। प्रभाव में विमल करने तथा नव्य रूप प्रदान करने का दृढ़ संकल्प ही उसके पीछे है। अन्तःकरण को स्वतन्त्र अस्तित्व प्रदान करती हुई कविता आगे बढ़ी। कविता की निजी गति स्वयं उसका विकास पथ बनी। हाँ, यह तो डिजाइन का अतिक्रमण करने वाली कविता की कथा है। डिज़ाइन से कहीं नीचे रहने वाली कविताएँ भी हो सकती हैं।"

अगला प्रश्न मैंने कुरूपजी के प्रकृति-प्रेम को लेकर किया, "देखने में आया है कि प्रकृति से सायुज्य स्थापित करके उसके माध्यम से विराट पुरुष की झाँकी पाने का अभ्यस्त कवि-हृदय जन-जीवन के माध्यम को उतनी सहजता से नहीं अपना पाता, अपनाता है तो प्रायः बिखर जाता है, जब कि सच्चे साधक को दोनों माध्यम समान रूप से सिद्ध होने चाहिए। आपने अपनी रचनाओं में इन दोनों माध्यमों को अपनाया है। कृपया अपनी परवर्ती रचनाओं के संदर्भ में बताएँ कि क्या आपको भी कभी ऐसी कठिनाई का अनुभव हुआ है ?"

कुरूपजी ने उत्तर दिया, 'मानव को मैं इस विराट प्रकृति के अंश के रूप में ही देख सकता हूँ। प्रकृति के ऊपर वह जो विजय प्राप्त करता है असल में वह प्रकृति की विजय है। उसका अन्तःकरण प्रकृति की ही निर्मिति है। अगर कोई 'क्रियेटिव पपस' हो तो उसका भी फल है। यह सच है कि मानव के प्रभाव के कारण प्रकृति के इतर दृश्य उसके परिपोषक के रूप में परिणत हो जाते हैं। फिर भी, मनुष्य को प्रकृति की वत्सल सन्तान के रूप में ही देखता हूँ, उसके साथ मत्सर-पूर्वक जूझने वाले प्रतिद्वन्द्वी के रूप में नहीं। माँ ने जिन सम्पदाओं को छिपा कर रखा है, उनको वह खोज निकालता है। अपने व्यवहारों से उनको अद्भुत निर्मित कर देता है। यह मेरी विचार धारा, हो सकता है, गलत हो। किन्तु इसी विचार-धारा के कारण मैं प्रकृति एवं मानव जीवन को उपादान के रूप में स्वीकृत करके काव्य रचना करने में सफल बन गया हूँ।

"प्रकृति मेरे लिए एक खुली हुई पुस्तिका है। वह प्रतिक्षण नूतन अनुभूतियाँ मेरे अन्तरंग में उत्पन्न करती है। कभी-कभी वह एक एक विराट प्रतीक के समान मेरे सामने प्रतिभासित हो जाती है। तब मैं उसके पीछे विद्यमान उस

अनादि सर्ग-सत्ता की याद कर सकता हूँ। मानव-जीवन तो प्रकीर्ण है। उसमें प्रकृति-सौंदर्य की सी स्वच्छता नहीं। इसी स्वच्छता के आधिक्य के कारण प्रकृति की सुन्दरता के माध्यम से सत्य तक पहुँचना और उसका दर्शन करना आसान हो जाता है। पर इसका यह अर्थ नहीं निकालना चाहिए कि मानव-जीवन का मैंने एकदम तिरस्कार कर दिया है। विभिन्न एवं विचित्र घटनाओं से भरे मानव-जीवन के पीछे प्रवाहमान अन्तश्चेतना के बारे में और उस अन्तःकरण की बोध-धारा के बारे में मैं सजग हूँ। और यही कारण है कि खून एवं युद्ध में स्नान करने पर भी मानव वर्ग के मंगलमय भविष्य का मैं सपना देखता हूँ और शुभ-चिन्तक रहता हूँ।

"मनुष्य ने विश्वविनाशकारी बम बनाया है और उसकी काली छाया में बैठकर विनाश का पैशाचिक मुख देखकर चीकना आरम्भ कर दिया है। 'मनुष्य मर सकते है, पर मनुष्य नहीं मर सकता,' मेरे मन में यह विश्वास आज भी ताजा है। किसी भी विनाशकारी शक्ति को सर्गात्मिक प्रवृत्ति के रूप में परिणत करने की ताकत उसके अन्तरंग में आज भी मौजूद है। भला मनुष्य का वह अन्तःकरण जो सौंदर्य-बोध एवं धर्मबोध का विधाता है, सत्य का निर्भीक एवं स्वतन्त्र अन्वेषक है, कैसे उसको आत्म-हत्या की प्रेरणा दे सकता है ? क्यूबा में से रूस ने आण-विक आयुध हटा लिए ? अपने विध्वंसकारी हथियारों का प्रयोग अमेरिका क्यों नहीं करता ? असल में, रूस या अमेरिका नहीं, बल्कि मानव का यही अन्तःकरण देश और काल की परिमिति की परवाह किए बिना जीवन के रथ को आगे की तरफ हाँकता ले चल रहा है। मुझे इस बात का पूरा विश्वास है और इसी विश्वास ने मुझे 'ह्यूमनिस्ट' बना दिया है। अपने अन्तःकरण के विकास की मात्रा के अनु-सार ही मनुष्य सत्य का दर्शन करता है, वेद या किसी दूसरे शास्त्र ग्रन्थों में उल्लिखित नियमों के अनुसार नहीं।

"काव्य-सृजन के सम्बन्ध में मुझे एक बात विशेष रूप से कहनी पड़ती है कि कोई भी मनुष्य जीवन के क्रियाकलापों से अलग रह कर, निरपेक्ष या निस्संग होकर, जीवन का दर्शन नहीं कर सकता, क्योंकि वह भी उसी का अंश है। अतः विराट प्रकृति के जरिए सत्य का दर्शन जितना सहज होता है, बहुक्रिया-जटिल जीवन से उतना सहज नहीं हो सकता।"

चर्चा को गीति-काव्य की ओर मोड़ते हुए मैंने पूछा, "'ओटक्कुषल' में संक-लित आपके गीतों को पढ़ने पर मेरी इस धारणा को बल मिला है कि गीत कोरी तुकबंदी नहीं। न ही वह स्वर-साधना या गलेबाजी का नाम है। वह तो अवचेतन की अतल गहराइयों में व्याप्त इन्द्रियातीत अनुभूति को चेतन में ले आने का सहज काव्यात्मक माध्यम है। ऋग्वेद के मनीषी ने जब 'गीर्भि वरुण सीमहि' कहा था तब वह बुद्धि की पहुँच से परे की इसी इन्द्रियातीत अनुभूति को शब्द-

बद्ध करने की बात कर रहा था। कृपया बताएँ, आप इस धारणा से कहाँ तक सहमत हैं?"

गीति-काव्य की वह तह पहुँचने हुए कुरुपजी ने उत्तर दिया, "नदी की लहरें, फेन, बुदबुदे आदि नदी की ही अन्तश्चेतना की गति हैं और उसी गति के लय-ताल हैं, बाहर से आरोपित नहीं। किसी भी पुष्प के विकास को लीजिए। उसका रंग, रूप, गठन सब कुछ उसकी आन्तरिक चेतना का ही स्फुरण है। कविता भी जब आन्तरिक भावों के स्वच्छन्द रूपाधान की अभिव्यक्ति होती है, तभी वह शक्ति-सम्पन्न बन सकती है। आरम्भ में मेरे ऊपर भी अभिजात-काव्य परम्परा के संकेतों का प्रभाव पड़ा। मलयालम में 'द्वितीयाक्षर प्रास' सार्वत्रिक है, जो किसी भी कवि के भावों को बाँध कर संकुचित करने में समर्थ है। इस परम्परा के अनुशीलन के कारण, कवि शब्द की आज्ञा मान कर सोचने को विवश हो जाता है। किन्तु इस विपदा में से धीरे-धीरे मैं अपने को छुड़ा सका।

"मानव के अवचेतन मन का अनिच्छाधीन स्फुरण भावामय स्वप्न की तरह गीति काव्यों में विकसित होता है। इस स्फुरण के दो अंश होते हैं। इच्छाधीन और अनिच्छाधीन। एक उदाहरण लीजिए। कोई भी कवि सूरजमुखी के बारे में कविता करने नहीं बैठता। जीवन की मंजिल में अकस्मात् एक दिन कवि उसे देख लेता है। उसको लगता है कि वह उस पुष्प को जानता है, मानो जन्मान्तर का भूला-बिसरा कोई मैत्रीबन्ध हो। कवि भावना एक पुष्प के सन्निकर्ष से, धीरे-धीरे उस मुग्ध सुमन का हृदय, प्रेम, मीठी व्यथा सब कुछ अनावृत हो जाता है। क्या यह इच्छाधीन कोई व्यापार हो सकता है? कभी नहीं। मन के अप्रबुद्ध तल में सोई हुई भावनाओं की कुछ छायाएँ, सूरजमुखी के रंग, रूप एवं भाव को डोरी पकड़ कर चेतन मन की सतह पर आ जाती है। किन्तु उन भावनाओं के उद्ग्रथन, रूपाधान तथा लक्ष्य में कवि की इच्छा-शक्ति का भी कुछ न कुछ हाथ अवश्य रहता है। अगर ऐसा न होता तो सूर्यकान्ति के बारे में लिखी हुई समस्त कविताएँ एक सी हो जाती और उनके 'सिग्निफिकेन्स' और 'मीनिंग' में कोई अन्तर नहीं रह जाता। अगर यह भाव-स्फुरण शक्तिशाली हो तो उसे दबाया नहीं जा सकता। दबा देने पर समय पाकर वह फिर से जागृत हो जाता है।

"अपने लिए नवीन रूप की प्रार्थना करती हुई समचेतना की करुणा को आकृष्ट करने वाली जीवात्मा की जो दशा होती है, वही इन भावों की गति में भी परिलक्षित होती है। जिन भावों को मैंने नगण्य समझ कर छोड़ दिया था, उनमें से कइयों ने बाद का अनुकूल सदर्भ पाकर मुझ को हठात् आकृष्ट करके नया रूप प्राप्त कर लिया है। काव्य सृजन की प्रक्रिया के सम्बन्ध में संक्षेप में इतना कह सकते हैं कि कवि की अन्तश्चेतना में भावों का जो स्फुरण होता है वह अनिच्छाधीन है, किन्तु स्फुरित भावों को रूप देने की प्रक्रिया में कवि की इच्छा

का भी हाथ है।"

भारतीय ज्ञानपीठ पुरस्कार का उल्लेख करते हुए मैंने पूछा, "भारतीय ज्ञानपीठ ने आपकी काव्यकृति 'ओटक्कुपल' को पुरस्कृत किया है। क्या आप भी इसे अपनी सर्वश्रेष्ठ कृति मानते है? यदि इसे नहीं तो और किसे?" कुरुपजी ने कहा, "मेरा काव्य-संग्रह 'ओटक्कुपल' भारतीय ज्ञानपीठ के प्रथम पुरस्कार द्वारा सम्मानित हुआ है। सन् १९२० से लेकर परिवर्तनों और हलचलों से भरे सामाजिक और राजनीतिक वातावरण में विकास की ओर अग्रसर होने वाले मेरे अन्तरंग का वह एक तरह से 'ग्राफ' है। यह बात इससे पहले भी एक बार मैंने एक अभिमुख भाषण में स्पष्ट की है। त्याग की वेदिका पर हुई वह महान आत्मबलि ही उसकी सीमा है।

"मैं 'ओटक्कुपल' को अपनी विशिष्ट एवं चुनी हुई कविताओं का संग्रह नहीं मानता। सन् १९५० के बाद भी मैंने कविताएँ लिखी है और पुस्तकें प्रकाशित की हैं। 'अन्तर्दाहम्', 'पथिकन्टे पाट्टु', 'विश्वदर्शन', 'जीवनसंगीत', 'मधुरं, सौम्यं, दीप्तं' आदि। इस संदर्भ में तो इतना ही कहा जा सकता है कि १९५० के बाद भी मेरे जीवन का विकास हुआ है और उस विकास का स्फुरण मेरी कविताओं मे देखा जा सकता है। क्रमिक विकास, निदानभूत बाहरी और भीतरी प्रकृति, यही तो मेरा जीवन है।"

पुरस्कार की बात को आगे बढ़ते हुए मैंने पूछा, "कवि के लिए आप सबसे बड़ा पुरस्कार किसे मानते है—रचना-प्रक्रिया में होने वाला आत्म-साक्षात्कार, रचना की समाप्ति पर मिलने वाली राहत या सन्तुष्टि, पाठकों अथवा आलोचकों से मिली प्रशंसा अथवा रायल्टी या पुरस्कार के रूप में मिलने वाली धन-राशि?" प्रश्न की आत्मा को छूते हुए कुरुपजी ने बड़ा मार्मिक उत्तर दिया, "प्रथम प्रश्न के उत्तर में मैंने इसे स्पष्ट कर दिया है। पिता के लिए अपने पुत्र के मुख-दर्शन से उत्पन्न आनन्द ही सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। किन्तु अगर बेटा कमाऊ हो जाए तो कोई भी पिता उसे बुरा नहीं मान सकता।"

पुरस्कार के बारे में मैंने एक और तथा अन्तिम प्रश्न किया, "आपके विचार से किसी देश के साहित्य के उत्थान में इस प्रकार पुरस्कारों का क्या योगदान हो सकता है? उससे पुरस्कृत साहित्कारों को प्रेरणा मिलती है या उसकी प्रत्याशा मे अन्य साहित्यकारों को?" वे बोले, "पुरस्कार प्राप्ति के अवसर पर मैंने इसके सम्बन्ध में अपना यह अभिमत प्रकट किया था: 'यह पुरस्कार नहीं, बल्कि इस पुरस्कार के पीछे विद्यमान आदर्श और संकल्प ही मुझे आकर्षित कर रहे हैं। मुझे प्रतीत होता है कि भारतीय साहित्य-बोध का पुनर्जागरण एवं भारतीय जनता के हृदयतल में होने वाला संश्लेषण यही वह आदर्श और सकल्प है। हाँ, मैं इस

बात से इन्कार नहीं कर सकता कि पुरस्कार प्राप्ति से कलाकार का उत्साह बढ़ता है और उसे नई-प्रेरणाएं प्राप्त होती हैं। किन्तु कलाकार के महत्त्व को बढ़ाने वाली, उसे उत्साह एवं प्रेरणाएं प्रदान करने वाली एकमात्र उपाधि पुरस्कार है, ऐसा मैं नहीं मानता।"

१३-११-१९६७]

o

श्री यशपाल

मैं पाठक को जज मानता हूँ

'सिंहावलोकन' के यशपाल को तो मैंने पढ़ा ही था, पर 'दिव्या', 'मनुष्य के रूप' और 'झूठा सच' के यशपाल को बहुत निकट से देखा भी था। देखा ही नहीं, जाना और पहचाना भी था—मैं वर्षों उस अशरीरी यशपाल के साथ रह जो चुका था। समस्याओं की उसकी पकड़ का मैं कायल रहा हूँ और उसके निर्मम विश्लेषण से प्रभावित भी। उसके समाधानों से मतभेद रखते हुए भी मैं उसकी लेखनी का लोहा मानता आया हूँ। जब पता चला कि यशपाल जी दिल्ली आए हुए हैं, मैं उनसे मिलने को लालायित हो उठा। शायद मन के किसी कोने मे यह जानने की साध भी रही हो कि यह षष्ठि-पूर्ति वाला यशपाल मेरे परिचित यशपाल से कितना भिन्न है।

मैं जब यशपालजी के यहाँ पहुँचा तो उन्हें पत्रकारों और फोटोग्राफरों से घिरे पाया। उनसे वे जिस बेतकल्लुफी से बातें कर रहे थे, उसे देख मुझे समझते देर न लगी कि आज इन के साथ खूब जमेगी। मेरे आने की पूर्वसूचना तो उन्हें थी ही और वे इसका प्रयोजन भी समझते थे। देखते ही देखते बड़ी कुशलता से सब से निपट कर मेरे पास आ बैठे। मिनटों में ऐसे घुल-मिल गए, मानो वर्षों पुराना परिचय हो। बस फिर क्या था, चर्चा चल पड़ी। उनके साहित्य की मूल प्रेरणा जानने की इच्छा से मैंने पूछा, "कहानी या उपन्यास लिखने की प्रेरणा आपको जीवन और जगत् से सीधे मिलती है या उनके प्रति बन चुके अपने किसी दृष्टिकोण से?"

मैं प्रश्न कर रहा था और यशपालजी की मुख-मुद्रा गम्भीर से गम्भीरतर होती जा रही थी। प्रश्न पूरा करके मैं उत्तर नोट करने के लिए तैयार हो गया, पर देखा यशपालजी अभी चुप ही बैठे हैं। मुझे लगा कि शायद मैं अपनी बात स्पष्ट नहीं कर पाया हूँ। यह सोचकर मैं उसकी व्याख्या में मुँह खोलने ही लगा था कि मुझे बीच में टोकते हुए वे बोल पड़े, "आप का प्रश्न मैं समझ गया हूँ। सबसे पहले तो मैं यह कहना चाहता हूँ कि इस प्रश्न में आपने मुझे पकड़ लिया है और पकड़ा भी खूब है। प्रश्न तो मुझसे बहुत लोग करते हैं पर इस तरह सीधे और मुक्त भाव से नहीं। उनमें प्रायः पूछने वाले का पूर्वाग्रह बोला करता है पर

आपके इस प्रश्न में पैनी जिज्ञासा है।" फिर सीधे प्रश्न पर आते हुए कहने लगे, "पार्थिव अनुभूति या कहें घटना-तथ्य के आधार पर मैंने बहुत ही कम लिखा है। मेरी अधिकांश अभिव्यक्ति का प्रेरक कारण समस्याओं या मान्यताओं के प्रति (वे सामाजिक हों, राजनीतिक हों अथवा नैतिक) मेरा विचार विश्लेषण ही रहा है। इसलिए, मेरी रचनाओं की मूल ध्वनि स्वीकृत मान्यताओं और वर्तमान परिस्थितियों के अन्तर्विरोध की ही रही है।

"उदाहरण के लिए, सतीत्व की मान्यता को यानी पति के प्रति अनन्य निष्ठा की बात को लें। पति के प्रति पत्नी की निष्ठा पार्थिव यानी शारीरिक भी हो सकती है और मानसिक भी। पर समाज को शारीरिक सतीत्व ही अधिक मान्य है। मानसिक सतीत्व की किसी को चिंता नहीं। शारीरिक सतीत्व भंग होते ही पत्नी समाज की दृष्टि में कुलटा हो जाती है। उसकी मनोनिष्ठा और उन परिस्थितियों के अन्तर्विरोध को कोई नहीं देखता जिसने उसे पर पुरुष को शरीर देने के लिए बाध्य किया था। और फिर नारी के अपने व्यक्तित्व का भी तो कुछ तकाजा है। सतीत्व की मान्यता क्या उससे टकरा नहीं सकती? सतीत्व और नारीत्व के अन्तर्विरोध को कोई नहीं देखता। मैं ऐसे ही अन्तर्विरोधों से लिखने की प्रेरणा पाता हूँ, न कि घटनाओं के तथ्यों से। मेरा जो पात्र इस अन्तर्विरोध को निखारता है, मैं उसी में बोलता हूँ। 'झूठा सच' को ही लें। यद्यपि कुछ लोग तारा को इस उपन्यास की नायिका कहते हैं, परन्तु उपर्युक्त दृष्टिकोण से मैं तारा को नहीं, कनक को इसकी नायिका मानता हूँ। मेरा विश्वास है कि अन्तर्विरोधों का अनुभव करने से ही मनुष्य नए समाधानों की चिन्ता करता है।"

मेरे पहले ही प्रश्न को यशपालजी ने जिस गहराई से लिया उसमें मुझे प्रोत्साहन मिला कि रचना प्रक्रिया पर ही उनसे एक और प्रश्न करूँ। रचना-प्रक्रिया की भट्ठी में पड़ते ही लेखक के जीवन दर्शन पर, उसकी मान्यताओं और विश्वासों पर चढ़ा कृत्रिमता का मुलम्मा उतरने लगता है और धीरे-धीरे उसकी चेतना में बाहर और भीतर के यथार्थों के नए-नए रूप उभरते आते हैं जो उसकी अनुभूति और संवेदना में रूपान्तर ला देते हैं, जीवन और जगत् के प्रति बन चुके उसके दृष्टिकोण में क्रान्ति की चिनगारी लगा देते हैं। यशपालजी की रचना-प्रक्रिया के विषय में जानकारी प्राप्त करने के लिए मैंने पूछा, "अपनी किसी रचना को लिखते समय या पूरा करने के बाद क्या आपको कभी यह भी लगा कि आपकी जिस विचारधारा को लेकर वह चली थी उस पर अभी और सोचने की गुंजाइश है?"

उत्तर में यशपालजी पूरे आत्म विश्वास से बोले, "ऐसा कभी नहीं लगा। क्योंकि मैं कहानी या उपन्यास घटना की निष्पत्ति को लेकर नहीं लिखता हूँ।

रचना को आरम्भ करते समय मेरे सामने समस्या होती है और उसका समाधान होता है जिसे मैं लेखनी उठाने से पहले ही पूरे विचार-विश्लेषण से निश्चित कर लेता हूँ। इसलिए, समस्या से उसके समाधान की ओर बढ़ता हुआ मैं घटना को अपने प्रयोजन से रूप और आकार देता हूँ, उसे निश्चित परिणति तक पहुँचाने वाले समर्थ पात्रों का निर्माण करता हूँ और उसके अनुरूप ही घटना की निष्पत्ति करता हूँ। 'दिव्या' को ही लें। उसमें मेरे सामने मुख्य समस्या थी हमारी धार्मिक आस्थाओं और वर्णाश्रम-धर्म द्वारा अनुमोदित गृहस्थी में नारी की स्थिति और उसके व्यक्तित्व की स्वीकृति में अन्तर्विरोध। इस समस्या को प्रस्तुत करने के लिए मैंने रुद्रवीर, पृथुसेन और मारिश नामक तीन ऐसे पात्रों को रचा जो तीन प्रकार के विचारों का प्रतिनिधित्व करते हैं। इसी प्रकार, 'झूठा सच' में मैंने पहले कनक को निर्भय और निर्लोभ चित्रित किया और फिर उसी पृष्ठभूमि पर यह दिखाया कि गृहस्थी की वर्तमान परिस्थितियों में पति के चुनने में भूल हो जाने पर नारी के सम्मुख कैसी समस्या आ सकती है और उस परिस्थिति में सचेत, आत्मसम्मान-युक्त नारी की क्या भावना होगी।

"रचना के समय मेरे सामने समस्या रहती है और रहती है समाधान की ओर संकेत की इच्छा। समस्या और समाधान के बीच की खाई को मैं बड़े आत्म-विश्वास से भरता जाता हूँ, क्योंकि मुझे सत्य का 'इल्यूजन' पैदा करने की अपनी सामर्थ्य पर पूरा भरोसा है। इसलिए, रचना की समाप्ति पर मुझे ऐसा नहीं लगता कि उसकी परिणति संतोषजनक नहीं हुई। मैं अपनी रचनाओं के सम्बन्ध में अपनी परख की सामर्थ्य के आधार पर निःसंकोच हो, यह बात कह रहा हूँ। सम्भव है, मेरी अपेक्षा अधिक गहरी परख रखने वाले लोगों को मेरी यह बात केवल मेरा थोथा अहंकारमात्र जान पड़े। उपन्यासों में तो मुझे कभी भी अपने रचे हुए घटना-क्रम की परिणति में शैथिल्य नहीं जान पड़ा। पर हाँ, कहानियों में कभी-कभी ऐसा हुआ है कि उनसे मेरा पूरा संतोष नहीं हो पाता। ऐसी कहानी को मैं कभी प्रकाशित नहीं कराता। कारण, मैं पाठकों का आदर करता हूँ। मैं पाठक को जज मानता हूँ और अपने को वकील। वकील जज के सामने जान-बूझ कर बेतुकी बात करने का साहस कैसे कर सकता है?"

मैंने चर्चा यशपालजी के उपन्यासों पर ही चला दी। उनके उपन्यासों के सामूहिक प्रभाव की बात करते हुए मैंने कहा, "आपके औपन्यासिक पात्रों का विकास पाठक को इस निष्कर्ष पर पहुँचाता है कि मनुष्य को बनाने और बिगाड़ने में मुख्यतः उसकी भौतिक परिस्थितियों का हाथ रहता है, और अपनी भौतिक परिस्थितियों पर उसका कोई वश नहीं चलता। इस प्रकार मनुष्य के विकास में 'चान्स' का ही अधिक योग रहता है।" अपनी बात को स्पष्ट करते हुए मैंने 'देश-द्रोही' के डा० खन्ना और 'मनुष्य के रूप' की सोमा का उदाहरण दिया और कहा,

"दानों के उथल पुथल भरे जीवन का मूल उनकी भौतिक परिस्थितियों में है, न कि उनकी किसी चारित्रिक विशेषता में।"

मेरे पूरे मन्तव्य को धैर्य से सुनकर यशपालजी बोले, "हाँ, उपन्यास के आरम्भ में तो ऐसा ही लगता है, पर यदि ध्यान से देखा जाए तो अन्त तक ऐसा होना नहीं दीखेगा। 'मनुष्य के रूप' की सोमा को ही लें। उपन्यास के आरम्भ में वह जितनी भोली भाली और निरीह लगती है, उपन्यास के अन्त में वह वैसी नहीं रहती, बल्कि अन्त में तो वह बहुत चालाक हो गई है। वही सोमा जिसे उपन्यास के आरम्भ में धनसिंह के भाग चलने के प्रस्ताव से लज्जा और भय का अनुभव होता है, उपन्यास के अन्त में बहुत होशियार हो जाती है। जीवन की स्थिरता के लिए वह एक खूँटे की तलाश में है और उसके लिए भूषण को फँसाने का यत्न करती है। यहाँ तक कि अपने अतीत से भयभीत होकर वह धनसिंह को पहचानने से भी इन्कार कर देती है। वास्तव में, मैंने अपने पात्रों को केवल भौतिक परिस्थितियों के सहारे नहीं खड़ा किया है, बल्कि उनकी भौतिक परिस्थिति और चेतना के घात प्रतिघात से ही उन्हें बनाने की चेष्टा की है। पर जैसा कि मैं पहले ही कह चुका हूँ, पात्र मेरे उपन्यासों में साधन के रूप में ही आते हैं और उसी रूप में उनका विकास होता है।"

यशपालजी ने प्रसंगवश 'मनुष्य के रूप' की सोमा द्वारा अन्त में खूँटा ढूँढने की बात कही तो मेरी स्मृति में उनके उपन्यासों की वे सभी नारियाँ उभर आईं जो पुरुष के कठोर शासन के प्रति विद्रोह की दुहाई देती हुई भी अपनी मुक्ति के लिए पुरुष का ही सहारा ढूँढती हैं। उनमें व्याप्त इस परस्पर विरोध का सही रूप जानने के लिए मैंने पूछा, "आपने अपने उपन्यासों में बार बार यह प्रश्न उठाया है कि नारी आखिर क्या है? क्या पुरुष के लिए ही, पुरुष को सन्तुष्ट करने के लिए ही नारी का जीवन है? क्या उसका कोई अपना अस्तित्व नहीं? और फिर आप पुरुष के कठोर शासन के प्रति उससे विद्रोह कराते हैं। पर अपने व्यक्तित्व के स्वतन्त्र निर्माण के लिए, अपने को ऊँचा उठाने के लिए वह पुरुष का ही सहारा ढूँढती है। 'दादा कामरेड' की यशोदा पति के प्रति तो विद्रोह करती है, पर उस विद्रोह के लिए बल प्राप्त करती है हरीश से। 'मनुष्य के रूप' की मनोरमा शिक्षित और आर्थिक रूप से सम्पन्न होते हुए भी भूषण का सहारा चाहती है। नारी के विद्रोह की यह कितनी बड़ी विडम्बना है?"

मेरी बात ने यशपालजी को गहरे विचार-मन्थन में डाल दिया। वे सच्चे कलाकार की निश्छलता से बोले, "आप ठीक कहते हैं। इस दृष्टि से तो मुझे मानना चाहिए कि मैं उन्हें स्वावलम्बी नहीं बना सका हूँ। कुछ नारी पात्रों को मैंने स्वावलम्बी बनाने की कोशिश की है, पर वे भी पूरी तरह अपने पाँव पर नहीं खड़ी हो सकीं।"

इसी बीच यशपाल और उनके साहित्य की मूल और सशक्त प्रेरणा श्रीमती यशपाल भी आ गई। ये शायद शॉपिंग करके लौटी थीं। उन्हें देखते ही मानो यशपालजी को कुछ याद आ गया हो। उनसे मेरा परिचय कराने के बाद वे बोले, "बस इनकी ही प्रतीक्षा थी। जब तक टैक्सी आती है। हम थोड़ी और चर्चा कर लें।" मैं समझ गया कि अब समय बहुत थोड़ा रह गया है और मुझे जल्दी ही अपनी चर्चा समेट लेनी चाहिए। फिर भी, उसी लय में मैंने एक और प्रश्न कर डाला, "कुछ लोगों को तो आपके उपन्यासों से अश्लीलता की शिकायत है। पर मेरी शिकायत ठीक उससे उल्टी है कि आप अपने उपन्यासों में स्त्री-पुरुष के सहज और स्वाभाविक प्रेम-विकास में भी रोड़ा अटका देते है? 'पार्टी कामरेड' की गीता और भावरिया दोनों ही एक-दूसरे की ओर आकृष्ट हैं, पर आप उन्हें मिलने ही नहीं देते। इसी प्रकार 'मनुष्य के रूप' की मनोरमा भूषण को चाहती है और भूषण उसे चाहता है, पर आप न जाने क्यों, उन दोनों के बीच वर्ग-चेतना को लाकर उन्हें जबरदस्ती अलग कर देते है। प्रेम की वेगवती धारा क्या अपने साथ वर्ग-चेतना के इन झाड़-झंखाड़ों को उखाड़ कर बहा नहीं ले जा सकती थी?"

यशपालजी भूषण और मनोरमा के सम्बन्धों का विश्लेषण करते हुए बोले, "हाँ, ऐसा हो सकता था, पर भूषण चाहते हुए भी जो मनोरमा को आरम्भ में स्वीकार नहीं कर पाता है, यह उसके अपने 'कॉम्प्लेक्स' के कारण है। वह हीन-भाव से ग्रस्त है। अवचेतन में वह मनोरमा की आर्थिक स्थिति से आशंकित है और बाहर वह वर्गहीनता की दुहाई देता है। वह वर्गचेतना से ग्रस्त है। यह साम्यवादी भूषण की कमजोरी थी। साम्यवादियों को मुझसे बेहद शिकायत है कि मैंने भूषण में 'क्लास कॉम्प्लैक्स' दिखाया है। पर मैं क्या करूँ? भूषण साम्य-वादी है तो क्या हुआ, वह इसी समाज का मनुष्य भी तो है। इसलिए वह 'कॉम्प्लैक्स' का भी शिकार था।"

इतने में टैक्सी भी आ गई, पर मन दोनों का अभी चर्चा मे ही था। फिर भी टैक्सी को देख हम दोनों उठ खड़े हुए और धीरे-धीरे उसकी ओर बढने लगे। टैक्सी के पास पहुँचते-पहुँचते मैंने एक और प्रश्न कर दिया और वह भी 'झूठा सच' पर। मैंने कहा, "आपका 'झूठा सच' एक औपन्यासिक महाकाव्य है और वह अलग से एक स्वतन्त्र चर्चा का विषय है। फिर भी उसके नाम के बारे में मेरी एक जिज्ञासा है जिसे रोक नहीं पा रहा हूँ। उसके समर्पण में आपने लिखा है, 'सच को कल्पना से रंग कर उसी जन-समुदाय को सौंप रहा हूँ, जो सदा झूठ से ठगा जाकर भी सच के लिए अपनी निष्ठा और उसकी ओर बढ़ने का साहस नहीं छोड़ता।' तो क्या आप कल्पित सत्य को झूठ मानते हैं जो आपने इस उपन्यास का नाम 'झूठा सच' रखा है। हमें तो आपका यह कल्पना-रंगा सत्य ऐतिहासिक सत्य से अधिक सच्चा

दीखता है। कहीं ऐसा तो नहीं कि व्यंग्य उभारने के लिए ही आपने यह नाम रखा हो ?"

टैक्सी का दरवाज़ा खुला ही रह गया और यशपालजी उसे पकड़ भीतर घुसते-घुसते उत्तर देने के लिए एकदम मेरी ओर घूम लिए और मुस्कराते हुए बोले, 'साहित्य का कल्पित सत्य झूठ नहीं होता, केवल स्थानान्तरित सत्य होता है। मानिए, आपके किसी मित्र ने कोई अन्याय किया। मित्रता के नाते आप उसका भण्डा नहीं फोड़ सकते। पर उस अन्याय का कल्पित व्यक्ति में आरोपित कर आप असन्तोष प्रकट कर सकते हैं। फिर उपन्यास के नामकरण के विषय में बोले, "व्यक्ति और परिस्थिति के अन्तर्विरोध को ध्वनित करने के लिए व्यंग्य से ही मैंने इसे 'झूठा सच' नाम दिया है। आपकी बात सुनकर मुझे उन शरणार्थी भाइयों की याद आ गई है जो इस उपन्यास में चित्रित परिस्थितियों को स्वयं भोग चुकने के कारण इस रचना के सत्य को बेहतर समझते हैं। मुझसे उनका पहला प्रश्न ही यही होता है, "क्या जी, 'झूठा सच' विच झूठ की ए ? मानूँ तो एह सारा सच ई-सच लगदा ए।"

१७-१२-१९६३]

o

२

'झूठा सच' के नारी पात्र

देश के विभाजन के साथ समझौते के रूप में हमें स्वतन्त्रता मिली और उसके मिलते ही देश की चिन्तन-धारा बदल गई। बँटवारे के साथ साम्प्रदायिकता की जो भीषण आँधी चली और उसमें जो जघन्य और कुत्सित घटनाएँ घटीं, निरीह नारी का जो अपमान और तिरस्कार हुआ, उसके फलस्वरूप मानवता पर से मानव का विश्वास उठ गया और जीवन के प्रति उसके दृष्टिकोण में आश्चर्यजनक परिवर्तन प्रकट हुआ। त्याग और तपस्या का मूल्य तेज़ी से गिरने लगा और उसके स्थान पर अर्थ और स्वार्थ की प्रवृत्तियाँ जड़ पकड़ने लगीं। देखते-देखते समूचे राष्ट्र की काया ही पलट गई। भारतीय संस्कृति और इतिहास की इस दुःखद और रोमांचकारी परिणति को सबसे पहले यशपाल ने अपने उपन्यास 'झूठा सच' में सागोपांग लिया। अपनी इस कृति में उन्होंने साम्प्रदायिक दंगों का जो हृदयविदारक चित्रण किया है, जन-मानस की अधोगति का जो निर्मम विश्लेषण प्रस्तुत किया है और बदलते हुए जीवन-मूल्यों का जो तटस्थ विवेचन किया है, उसकी खूब प्रशंसा हुई है। पर उपन्यास के मुख्य पात्रों—कनक, पुरी और तारा—के चरित्र को उन्होंने जो मोड़ दिए हैं और उनकी जो अन्तिम परिणति दिखाई है, उसके कारण लेखक की खूब खबर भी ली गई है। पिछले दिनों जब यशपालजी से भेंट हुई तो मैंने भी 'झूठा सच' के चरित्र-चित्रण—विशेषत: नारी पात्रों के चरित्र-विकास पर ही चर्चा को केन्द्रित करने की चेष्टा की, क्योंकि यही उसका सबसे अधिक विवादास्पद पक्ष है।

'झूठा सच' की पृष्ठभूमि को लेकर मैंने पहला प्रश्न किया, " 'झूठा सच' के प्रथम भाग में आपने देश के विभाजन के समय के साम्प्रदायिक दंगों, उत्तेजित जन-समूहों का पाशविक व्यवहार और उसके शिकार निरीह लोगों द्वारा भोगी असह्य यन्त्रणाओं का जो चित्रण किया है, उसे पढ़कर रोमांच हो जाता है। भुक्तभोगी आपके इस यथार्थ वर्णन की गवाही देते नहीं थकते। जहाँ तक मेरी जानकारी है, आप उन दिनों पश्चिम पंजाब में नहीं थे। इसलिए वे स्थितियाँ आपकी प्रत्यक्ष देखी या भोगी हुई नहीं हो सकतीं। कृपया बताएँ, उनसे सीधा सम्पर्क या परिचय न होने पर भी आप उनका यथार्थ चित्रण कैसे कर पाए ?"

प्रश्न का स्वागत करते हुए यशपालजी बोले, "आपका अनुमान ठीक है। विभाजन की घटनाओं के समय मैं पश्चिम पंजाब से दूर लखनऊ में था, परन्तु पंजाब से लगाव होने के कारण उस समय पंजाब में जो कुछ हो रहा था, उसके सम्बन्ध में पत्रों में प्रकाशित विवरणों को ध्यान से पढ़ता रहता था। पंजाब के विभाजन को आधार बनाकर 'झूठा सच' उपन्यास लिखने का निश्चय मैंने सन् १९५५ में किया था। यह निश्चय करने पर जहाँ तक सम्भव हो सका, ऐसे व्यक्तियों से बातचीत करने का यत्न किया जो उन घटनाओं के भुक्तभोगी थे और उनसे सहानुभूतिपूर्ण जिरह करके उनकी तत्कालीन भावनाएँ और संवेदनाएँ जानने का यत्न किया। दुर्भाग्यवश सन् १९५५ से पूर्व जब ऐसा उपन्यास लिखने का विचार न था मैंने विभाजन के समय पत्रों की फाइलें नहीं रखी थीं। आवश्यकता पड़ने पर घटनाओं को यथासम्भव तथ्य का आधार और रंग देने के लिए कुछ घटनाओं की तारीखें जानना और उस समय के प्रमुख लोगों के व्यवहार और वक्तव्य जानने की आवश्यकता हुई। इस काम के लिए १९५७ में और १९५९ में दो बार पंजाब गया और वहाँ जैसे भी हो सका, 'ट्रिब्यून' तथा दूसरे पत्रों की फाइलों का अध्ययन किया। तथ्य के नाते यह कह देना उचित है कि 'झूठा सच' में वर्णित घटनाएँ प्रायः काल्पनिक हैं, परन्तु उनमें तथ्यों का पुट दे दिया गया है। या कुछ मूल तथ्य घटनाओं को लेकर उनके चारों ओर जनश्रुति और कल्पना से रक्त-मांस का पूर्ण शरीर बना दिया गया। 'झूठा सच' के सभी मुख्य पात्र काल्पनिक हैं। ध्यान केवल इस बात का रहा है कि वैसे व्यक्ति समाज में अनेक मौजूद रहते हैं। कुछ पात्रों का सृजन करने के लिए उनमें दो या तीन वास्तविक व्यक्तियों के व्यवहारों को मिलाकर भी एक पात्र बना दिया गया है। सफल कल्पना तो वही समझी जाएगी जो तथ्य और वास्तविक जान पड़े।"

चर्चा को उनके पात्रों के चरित्रचित्रण की ओर मोड़ते हुए मैंने पूछा, "'झूठा सच' के अधिकांश पाठकों ने तारा को ही उपन्यास की नायिका समझा है, परन्तु पिछली भेंट के समय आपने कहा था कि आप कनक को इस उपन्यास की नायिका मानते हैं। इस दृष्टि से कनक और पुरी के मिलन और विच्छेद को उपन्यास का मूलदण्ड मानना होगा। कुछ पाठकों को पुरी में कनक की आसक्ति और उससे विरक्ति का स्तर मानसिक की अपेक्षा बौद्धिक अधिक जान पड़ता है। कनक ने सच्चे प्रेमी की तरह पुरी को उसके सम्पूर्ण गुण-दोषों सहित कभी नहीं अपनाया। वह पुरी के आदर्शों पर ही मुग्ध हुई थी और उसकी विरक्ति का कारण भी पुरी का उन आदर्शों से डिग जाना ही था। कनक का स्वप्न पुरी को केवल बौद्धिक (इंटैलेक्चुअल) संगिनी बनने का था, उसका पत्नी रूप तो केवल आनुषंगिक था। कनक को अपनी पूर्ण सहानुभूति देकर आप मानसिक सम्बन्धों की अपेक्षा कहीं बौद्धिक सम्बन्धों को तो महत्त्व नहीं दे रहे?"

प्रश्न को गम्भीरता से लेते हुए यशपालजी बोले, "मेरे विचार में तो कनक को नितान्त बौद्धिक नहीं कहा जा सकता। मानसिक शब्द से आपका अभिप्राय 'भावुक' प्रवृत्ति से है तो मेरे विचार में कनक बौद्धिक की अपेक्षा भावुक अधिक है। कनक के व्यवहारों और आचरणों में आप तटस्थ तर्क या दूरदर्शिता की अपेक्षा भावोन्मेष का प्राबल्य पाएंगे। यह अवश्य है कि कनक भावुक और उन्मेषों से प्रेरित होते हुए भी अपनी दृष्टि और विचार की प्रवृत्ति भी रखती है और संस्कारों की अपेक्षा विचार को महत्त्व देती है। आरम्भ में पुरी के प्रति आकर्षण अनुभव होने पर वह उसमें इतने गुण देखती है कि नैयर से तारा के प्रति पुरी के अन्याय की बात सुनने के लिए भी तैयार नहीं होती। जब कनक को पुरी के आचरण में उसके पिता तथा उसकी बहिन के प्रति अवहेलना और रुखाई दिखाई देने लगती है तब भी वह तटस्थ नहीं रह जाती। पुरी के ऐसे व्यवहारों से कनक के विचारों को बौद्धिक आघात नहीं लगता, बल्कि उसकी भावना को आघात लगता है। कनक नैतिकता को केवल बौद्धिक प्रश्न नहीं, अपितु सौजन्य और मानवता का अंश मानती है जिसे भावनात्मक दृष्टिकोण कहना ही संगत होगा। पुरी से कनक का मनमुटाव सिद्धान्तों के सम्बन्ध में नहीं, बल्कि पुरी के शारीरिक व्यवहार और नैतिक तथा स्वार्थपूर्ण व्यवहारों के कारण होता है। कनक भावुक है और कभी उसके आवेश-उन्मेष उसकी सतर्कता को भी दबा देते हैं। ऐसी अवस्था में वह पुरी की सहायता के लिए झूठ बोलने, नैनीताल होटल में पुरी के साथ और लखनऊ में गिल के साथ उसके व्यवहारों से स्पष्ट हो जाता है। परन्तु वह विचार शक्ति और दृष्टि से हीन नहीं है। कनक ऐसी प्रवृत्ति के कारण ही पुरी की संगति असह्य अनुभव करने लगती है। उसे आप सजग, साहसी, अपने विचारों के अनुसार ईमानदार आधुनिक नारी का उदाहरण मान सकते हैं। मैं न केवल रूखे बौद्धिक सम्बन्धों को और न केवल भावुक सम्बन्धों को व्यावहारिक मानता हूँ। मुझे जीवन में दोनों का मिश्रण ही श्रेय और स्वाभाविक जान पड़ता है।"

तारा के चरित्र-विकास की अन्तिम परिणति से अनेक पाठकों को निराशा हुई है। इस निराशा को व्यक्त करते हुए मैंने कहा, "आपके उपन्यास 'मनुष्य के रूप' की सोमा की तरह 'झूठा सच' की तारा भी प्रायः परिस्थितियों से दबी जान पड़ती है। भारत में आकर ऊँचा पद और पर्याप्त वेतन पाकर भी वह अपने अतीत से आतंकित रहती है। तारा को आपने जरूरत से ज्यादा भीरु बनाया है। वह मानसिक रूप से आत्म-निर्भर और निर्भय क्यों नहीं हो सकी?"

तारा का पक्ष लेते हुए-से यशपाल जी बोले, "'मनुष्य के रूप' की नायिका सोमा के विकास में निश्चय ही मुख्य निर्णायक उसकी परिस्थितियाँ रहती हैं। वह परिस्थितियों से विवश होकर उनके अनुसार निर्वाह का यत्न करती है, परन्तु तारा के विषय में यह बात नहीं है। तारा की प्रकृति में शील और मौन अवश्य है जिससे

भ्रम हो सकता है कि वह परिस्थितियों का विरोध नहीं कर रही है। परन्तु उसके जीवन की घटनाओं के परिणाम देखने से ऐसा नहीं कहा जाएगा। तारा ने केवल एक अवसर पर—असद से निराश होने पर और भाई के सहारे से भी निराश हो जाने पर—भाग्य के सामने सिर झुकाया है, इसके अतिरिक्त कभी नहीं। इस अवसर पर भाग्य के सामने सिर झुकाने के परिणाम से शिक्षा पाकर वह दृढ़ता का मौन प्रण कर लेती है। सोमराज के पूर्णतः वश में होने पर भी वह उसके दुर्व्यवहार से झुकी नहीं। दो अवसरों पर आततायियों से सुध रहते तक शारीरिक शक्ति से भी लड़ी। हाफिज़जी के यहाँ रहते समय उसने सहृदयता के प्रपंच को भी स्वीकार न किया। उसका दृष्टिकोण साम्प्रदायिक नहीं, धर्म को वह केवल व्यावहारिक रीति रिवाज से अधिक महत्त्व नहीं देती, परन्तु इस्लाम स्वीकार करने से उसे बौद्धिक ग्लानि है, क्योंकि वह उसे अपने आत्मसम्मान के विरुद्ध समझती है और उसे स्वीकार करने के बजाय अन्धकारमय भविष्य में कूदने को तैयार रहती है। उसकी प्रकृति का यह पक्ष आप रिफ्यूजी कैंप में, अग्रवालों के यहाँ, मर्सी और डाक्टर श्यामा के प्रसंगों में सब जगह देख सकते हैं। वह दूसरों की मान्यता से घृणा या विराग प्रकट न करके भी अपने विचार के अनुसार ही चलती है।

"स्वयं सहे वीभत्स व्यवहारों को वह प्रकट नहीं करती, उसके दो कारण समझे जा सकते हैं—एक कारण यह कि भोगे हुए अत्याचार की कहानी बताने के लिए उसे कोई नैतिक मजबूरी नहीं जान पड़ती। ऐसा करने से वह संकीर्ण विचार लोगों की ग्लानि और सहृदयों की दया ही पा सकती थी। उसे इन दोनों वस्तुओं की आवश्यकता नहीं थी। जिस समय उसने नैतिक दृष्टि से उस रहस्य को प्रकट कर देना उचित समझा, वह प्रेमी की दृष्टि में गिर जाने की आशंका से पीछे नहीं रही। मानसिक आत्मनिर्भरता और नैतिक निर्भयता का इससे उत्कृष्ट और क्या प्रमाण चाहिए। अपनी नौकरी के आरम्भ में वह अपने दफ्तर के आदमियों के बहुमत में नहीं दबती, सत्य के विरुद्ध भूख हड़ताल और दूसरे दबावों से नहीं डरती, अच्छा पद पा लेने पर भी अपने भाई की तरह नौकरी का भविष्य बिगड़ जाने की आशंका में अपने बॉस के इशारे पर नाचने को तैयार नहीं। वह संस्कारों और मान्यताओं को ठुकरा कर अपने विचार के कारण ही शीला और रतन को सहायता देती है। यही बात सीता के संबंध में भी कही जाएगी। इस कारण वह कनक को भी अपनी सहानुभूति देती है।"

इस उपन्यास के प्रमुख नारी पात्रों के चरित्र विकास की विसंगतियों को उभारते हुए मैंने कहा, " 'झूठा सच' की कनक और तारा दोनों ही नारी पर पुरुषों के अत्याचारों के प्रति जागरूक हैं और पुरुषों की आततायी वृत्ति के प्रति विद्रोह भी करती हैं। परन्तु एक पुरुष के प्रति विद्रोह करके शीघ्र ही दूसरे का सहारा ढूँढ़ने लगती हैं। उन्हें दूसरा पुरुष पा लेने पर ही चैन मिलता है। कनक पुरी से

काटकर गिल की ओर झुक जाती है और तारा जीवन भर पुरुषों से बचती-बचती अंततः प्राणनाथ को आत्मसमर्पण कर देती है। आप नारी के जीवन की नियति क्या यही मानते है ? तारा जैसी सचेत और आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर नारी की भी ? पुरुष के अत्याचारों के प्रति नारी के विद्रोह की सार्थकता तो इसमें है कि वह स्वावलम्बी बने।"

प्रश्न बेहद तीखा था। मुझे आड़े हाथों लेते हुए यशपालजी बोले, "आपके इस प्रश्न से विचित्र मान्यता प्रकट होती है। आपका अन्तिम वाक्य है—'पुरुष के अत्याचारों के प्रति नारी के विद्रोह की सार्थकता तो इसमें है कि वह स्वालम्बी बने।' यहां प्रसंग के विचार से 'स्वावलम्बी बने' का अभिप्राय हो जाता है कि नारी अविवाहित रहे। इस प्रसंग में प्रश्न हो सकता है—नारी को स्वावलम्बी बनने के लिए पुरुष से विवाह ही नहीं करना चाहिए तो नारी को पुरुष के व्यवहार का विरोध करने की सिरदर्दी लेने की जरूरत क्या है ? यह विचित्र संस्कार है कि नर-नारी के सम्बन्ध या विवाह का अर्थ अवश्यम्भावी रूप से पुरुष द्वारा दमन और नारी की दीनता ही समझा जाए। क्या नर-नारी का सम्बन्ध या विवाह समता और आत्मनिर्णय के आधार और परिस्थितियों में हो ही नहीं सकता ? मेरे विचार में ऐसा हो सकना चाहिए और कनक और तारा का आचरण ऐसे सम्बन्ध का उदाहरण माना जा सकता है। आप अपने प्रश्न के कुछ शब्द बदल दें तो उत्तर स्वयं उसी में से निकलेगा। कनक किसी विवशता में पुरी के चरणों में आत्मसमर्पण नहीं करती। जब तक पुरी उसे नेक, सहृदय और आदर्शवादी जान पड़ता है वह उसे सब बाधाओं के बावजूद प्राप्त करने का यत्न करती है और प्राप्त कर लेती है। इसे आत्मसमर्पण क्यों कहा जाए, प्राप्त करना क्यों नहीं ? कनक जब पुरी के चरित्र के दूसरे पक्ष का, उसके स्वभाव में क्षुद्रता और स्वामीपन के अहंकार का, भाव देखती है तो सिर झुका कर सहती नहीं, उसके स्वामित्व के अहंकार को ठुकरा देती है। साधारण स्वस्थ्य व्यक्ति की तरह वह प्रेम और साथी की आवश्यकता अनुभव करती है और आवश्यकता की पूर्ति के लिए गिल को स्वीकार करने की इच्छा अनुभव करती है। यही बात तारा के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। वह सामाजिक मान्यता से और शारीरिक रूप से भी सोमराज के वश में होने पर उसके प्रति ग्लानि अनुभव कर लेने के पश्चात् आत्मसमर्पण नहीं करती। सोमराज के बादउसके सामने अनेक प्रस्ताव आते हैं, वह अपनी रुचि अथवा संतोषजनक जीवन-साथी की कल्पना के विचार से उन्हें अपने योग्य नहीं पाती। जब योग्य व्यक्ति को पाती है तो स्वीकार कर लेती है। आप नारी द्वारा स्वीकार करने या प्राप्त करने को आत्मसमर्पण का नाम क्यों देना चाहते है ? यह कहीं पुरुषों के परम्परागत स्वामित्व के अहंकार की ध्वनि ही तो नहीं ? वर्तमान युग के प्रबुद्ध नर-नारियों के विवाहों के लिए आत्मसमर्पण शब्द की अपेक्षा सहमति और पारस्परिक स्वीकृति

शब्द ही अधिक उपयुक्त माने जाने चाहिए।"

इस उत्तर में यशपालजी द्वारा उठाए गए प्रश्न को झेलते हुए मैंने कहा, "इससे कौन इन्कार करेगा कि पति-पत्नी का सम्बन्ध समता के आधार पर हो सकता है, और होना भी चाहिए। पर समता का अर्थ जीवन-साथी से बराबरी का हक पाने की चेष्टा करना ही नहीं, उसे बराबरी का हक देना भी है। इस दृष्टि से, मुझे कनक से—बल्कि कनक के स्रष्टा से—शिकायत ही यह है कि वह अपने जीवन साथी पुरी से चाहती तो बहुत-कुछ है, पर उसे देने से घबराती है, यहाँ तक कि उसे पतिवत् व्यवहार करने का हक भी नहीं देना चाहती और उससे मुख्यतः इसी कारण तलाक लेने पर तुल जाती है कि वह उसे 'परेशान' अधिक करता है और 'सन्तुष्ट' कम। यह कैसी समता हुई?"

प्रश्न की गहराई में उतरते हुए यशपाल जी बोले, "आप पति-पत्नी के सम्बन्ध को 'समता' अर्थात् परस्पर समान रूप से सतोष पाने और देने का सम्बन्ध मानना चाहते हैं और विवाहित जीवन में सन्तोष पा सकने और दे सकने को आवश्यक समझते हैं तो आपको कनक से और उसके स्रष्टा से भी शिकायत नहीं हो सकती। आप पुरी से कनक के तलाक को भी अनुचित नहीं मानेंगे। आपने कनक के शब्दों की ओर सकेत किया है—'पुरी परेशान ही करता है और सन्तुष्ट नहीं'—यह वाक्य पुरी और कनक के यौन अनुभवों के प्रसग में है और इसकी ध्वनि स्पष्ट है। कनक सामाजिक और राजनैतिक व्यवहारों के क्षेत्र में पुरी के नैतिक दृष्टिकोण से असन्तुष्ट रहती थी और यौन सम्बन्ध में केवल परेशानी पाती थी, सन्तोष नहीं। इस पर भी आप कनक से नाराज हैं कि वह पुरी को पतिवत् व्यवहार करने का हक भी नहीं देना चाहती। कनक के शब्द स्पष्ट हैं कि वह पुरी को पतिवत् व्यवहार के योग्य नहीं पाती थी। पुरी जिस व्यवहार के योग्य नहीं था उस व्यवहार का हक उसे दिलाकर, आपको या हमारे समाज को कनक के परेशान होते रहने से क्या सन्तोष मिल सकता था? यह आप मानेंगे कि नर-नारी अन्य सम्बन्धों का सन्तोष तो विवाह के बिना दाम्पत्य सम्बन्ध के द्वारा भी पा सकते हैं, परन्तु यौन-सम्बन्ध का सन्तोष तो पति-पत्नी के सम्बन्ध के आधार पर ही होना चाहिए। जब कनक पति-पत्नी के सम्बन्ध के मुख्य प्रयोजन का सन्तोष ही नहीं पा रही थी तो उसे 'समान रूप से देने पाने का अवसर' कहाँ था? उस पर यह लांछन लगाना कि वह 'अपने जीवन साथी से चाहती तो बहुत कुछ थी पर उसे देने से घबराती थी,' कैसे उचित हो सकता है?"

यशपालजी के उत्तर से मुझे लगा कि वे 'सेक्स' को जरूरत से अधिक महत्त्व दे रहे हैं। इसलिए मैंने कहा, "जीवन में सेक्स ही तो सब कुछ नहीं। नर-नारी के सेक्स-जीवन की विषमता को अत्यधिक महत्त्व देने से समूची समाज-व्यवस्था बिगड़ जाएगी। कनक और पुरी के सेक्स जीवन की विषमता कोई बहुत असाधा-

रण या अनहोनी नहीं कही जा सकती। यदि वास्तविकता का पता चल सके तो शायद निन्नानवे प्रतिशत दम्पति ऐसी विषमता का शिकार मिलेंगे। पर ऐसे कितने हैं जो इसी कारण तलाक लेने पर उतारू हो जाते हैं ? ऐसी नारी—विशेषतः भारत में—तो शायद एक भी न मिले। आपकी कनक क्या हर किसी से निराली है ?"

शान्त और संयत स्वर में यशपालजी बोले, "यदि हमारे समाज में पति-पत्नियों के यौन-अनुभवों की वास्तविकता के बारे में आपका अनुमान सही है तो मैं यह कहने के लिए मजबूर हूँ कि ऐसी स्थिति में हमारे समाज के निन्नानवे प्रतिशत नर-नारियों की स्वाभाविक प्रवृत्तियों और आवश्यकताओं का अन्यायपूर्ण दमन हो रहा है और यह स्थिति बहुत ही शोचनीय है। हमारे आधुनिक समाज में होने वाले विवाहों से, दाम्पत्य-सम्बन्ध कायम करने से, विवाह और पति-पत्नी सम्बन्ध का मूल प्रयोजन ही पूरा नहीं हो रहा है तो यह बहुत व्यापक और गहरी धोखा-धड़ी और अनाचार है। आपके कथन का एकमात्र अर्थ यह ही होगा कि हमारे समाज के निन्नानवे प्रतिशत नर-नारी बिना किसी शारीरिक संतोष अथवा प्रेम के यौन सम्बन्धों और दाम्पत्य को निभा रहे है। दाम्पत्य-जीवन में उनके मनों और शरीरों का सहयोग नहीं है। ऐसी अवस्था को सामाजिक मान्यता के आवरण में व्यभिचार को प्रश्रय देना ही कहना चाहिए। आपको याद होगा कनक के पिता पं० गिरधारी लाल ने भी ऐसा ही विचार प्रकट किया था।

"आपने प्रश्न में भारतीय नारी के स्वभाव और आदर्श पर विशेष बल दिया है। भारतीय नारी के सम्बन्ध में अनेक लोगों की बड़ी विचित्र धारणा है। मेरा पूर्ण निश्चय है कि जैसे भारतीय पुरुष योरोप, अमरीका और एशिया के अन्य देशों के पुरुषों से भिन्न नहीं है, उसी प्रकार भारतीय नारी भी शारीरिक गठन और इच्छाओं तथा प्रवृत्तियों के विचार से अन्य देशीय नारियों से भिन्न नहीं है। अन्य देशीय नारियों की तुलना में भारतीय नारी के विश्वासों और व्यवहारों में जो भेद दिखाई देता है वह भारतीय भौगोलिक स्थिति या जलवायु के कारण नहीं, बल्कि इस देश की नारी के बहुत समय से दमन की परिस्थितियों में रहने के कारण ही है। बताइए, भारतीय नारी के आदर्श के बारे में आपकी क्या कल्पना है ? बहुत से लोग इस बात के लिए भी गर्व करते हैं कि भारत में पत्नियों के सती हो जाने की प्रथा रही है। जिन्हें भारतीय नारी के इस आदर्श के लिए गर्व है उनसे आशा की जानी चाहिए कि इस गर्व-योग्य आदर्श को पुनः स्थापित करें। अनेक भारतीयों को विश्वास है कि सती-प्रथा को केवल भारतीय नारी ही निभा सकती थी। ऐसे गर्व का आधार केवल अज्ञान है। एन्थ्रापालाजी (मानव-विज्ञान) की खोजों से परिचित लोग जानते हैं कि पत्नियों को सती करने की प्रथा प्राचीन भारतीय सभ्यता की अपेक्षा मिश्र, अफ्रीका, फीजी और फिलिपाइन्स इत्यादि देशों के प्राचीन कबीलों में कहीं अधिक थी। आप शरत बाबू की पुस्तक 'नारी का मूल्य' में भी

पाएँगे कि अमरीका की गहोमी जातियों और फिजी के आदिम वासियों में मृत पति के साथ पचास-पचास, सौ-सौ पत्नियाँ बहुत आग्रह से सती हो जाती थीं या आत्म-हत्या कर लेती थीं। उन असभ्य समझे जाने वाले देशों की स्त्रियों को मृत पति की चिता पर नहीं बैठाया जाता था। वे पति को समाधि दी जाने के समय उसके शव के चारों ओर खड़ी होकर अपने हाथ से अपने पेट में छुरे भोंककर आत्म-हत्या कर लेती थीं। अथवा जिस वृक्ष के नीचे पति को समाधि दी जाती थी उसकी शाखाओं से पति प्रेम में फाँसी लगाकर झूल जाती थीं।

"आपको गर्व है कि भारतीय नारी की, दमन सहने की, क्षमता संसार में अधिक है। परन्तु क्या आज भारत की सभी नारियाँ समान दमन सह रही हैं, वे एक-सी परिस्थितियों में जीवन बिता रही हैं? यदि भारतीय नारी से यह आशा की जाए कि वह जीवन भर पूर्णतः एक पुरुष की सम्पत्ति बने रहने का गर्व करे तो आज देश के स्कूलों, कालिजों, यूनिवर्सिटियों में पढ़ने-पढ़ाने वाली लड़कियों, सामाजिक व शासन कार्य में सहयोग देने वाली नारियों की अपेक्षा उन नारियों को ही अपने समाज का आदर्श समझना चाहिए जो आज भी घर की चार दीवारी से बाहर नहीं निकल सकतीं। यदि घर से बाहर निकलने के लिए मजबूर होती हैं तो सिर से पाँव तक बुरके में लिपटी रहती हैं। वे ही इस बात का गर्व कर सकती हैं कि पति के अतिरिक्त कोई अन्य पुरुष उन्हें नहीं देख सकता। ऐसी नारियों को ही भारतीय नारी के आदर्श का प्रतीक माना जाना चाहिए। 'झूठा सच' का लेखक भारतीय नारी के लिए ऐसे आदर्श के छल में विश्वास नहीं करता। इसलिए उसकी सहानुभूति, अपने व्यक्तित्व को अनुभव करने वाली, व्यक्तित्व का अधिकार माँगने वाली कनक से है।"

इस उत्तर में पूरी समाज व्यवस्था के प्रति यशपालजी का जो आक्रोश व्यक्त हुआ है उसकी प्रखरता को देख, मैं कुछ देर तो स्तब्ध रह गया। फिर हिम्मत करके मैंने कह ही दिया, "लगता है, समाज में नारी के निरन्तर दमन को देखकर आपका दृष्टिकोण सम्पूर्ण समाज-व्यवस्था के प्रति आक्रोश का हो गया है। पति-पत्नी के परस्पर सम्बन्धों में समता की माँग अनुचित नहीं, पर वैयक्तिक संतोष को ही सब कुछ मान लेना भी अनिष्ट को बुलावा देना है, जो जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में गतिरोध ला देगा। परिवार का भी अपना महत्त्व है। परिवार बन जाए तो उसकी रक्षा भी आवश्यक समझी जानी चाहिए। आपकी कनक की दृष्टि में वैयक्तिक संतोष का ही महत्त्व है, जिसकी तुलना में पति की इच्छा और बेटी का भविष्य तक भी नगण्य ठहरता है। पुरी बेचारा अपना पति का हक भी छोड़ने को तैयार हो गया, पर कनक किसी भी शर्त पर उससे समझौता करने को राजी नहीं हुई और अन्ततः तलाक लेकर ही मानी। कनक की इन सब ज्यादतियों के बावजूद उसे आपकी पूरी सहानुभूति मिली है।"

मेरे कथन में जो शिकायत का स्वर था उसे पकड़ते हुए यशपालजी ने कहा, "निश्चय ही मेरी सहानुभूति कनक के प्रति है, क्योंकि वह ईमानदार है और उसमें आत्म-निर्भरता का साहस और विश्वास है। वह जानती है कि वह पुरी से तृप्ति, संतोष और प्रसन्नता नहीं पा सकती थी, न उसे दे सकती थी। कथानक से बिलकुल स्पष्ट है कि पुरी भी कनक की संगति से केवल शिकायत का ही अवसर पा रहा था। जब वह पतिवत् व्यवहार का हक छोड़ देने के लिए तैयार था तो प्रकट में पति बने रहने का दम्भ क्यों कायम रखना चाहता था। आप समझते हैं पुरी पतिवत् व्यवहार का हक छोड़ने में त्याग कर रहा था। वास्तव में वह, अपने विश्वास में, अपने पुंसत्व की प्रतिष्ठा बनाए रखने के लिए छल कर रहा था; अर्थात् वह वास्तव में पति न रहने पर भी समाज द्वारा पति समझा जाने की अपेक्षा करता था। कनक ऐसे छल में सहयोग नहीं देना चाहती थी। शेष रहा प्रश्न कनक की बेटी का। कनक अपनी बेटी को पुरी की ही नहीं अपनी भी संतान मानती है और अपनी बेटी का भविष्य बना सकने का साहस रखती है। इस विषय में वह पुरी की सहायता नहीं चाहती। यदि कनक चाहती तो कानूनन पुरी से बेटी के लिए खर्च ले सकती थी। उसने ऐसा भी नहीं किया, क्योंकि उसमें आत्म-विश्वास था और वह आत्म-निर्भर रहना चाहती थी। परिवार को महत्त्व और मान्यता अवश्य दी जानी चाहिए, परन्तु समाज में सुव्यवस्था और कल्याण के प्रयोजन से, समाज में विषमता को छिपाने और समाज को यातना का शिकार बनाए रखने के लिए नहीं। परिवार को मान्यता दी जानी चाहिए सच्चाई और वास्तविकता के आधार पर, छल और दमन के आधार पर नहीं।"

१३-११-१९६४]

o

श्री जैनेन्द्रकुमार

पूर्णता का नाम अर्द्धनारीश्वर है

आजका कथा-साहित्य इतना दुरूह हो उठा है कि कभी-कभी जीवन से भी अधिक जटिल लगने लगता है। पहले का कथा-साहित्य पाठक को पकड़ लेता था, पर आज पाठक को कहानी या उपन्यास पकड़ना होता है। आज के कथा-साहित्य की परिधि सीमित हो गई है और वह इतना अधिक विशिष्ट हो गया है कि सभी पाठकों को छू नहीं पाता। बल्कि यों कहना चाहिए कि सभी पाठक उसे छू नहीं पाते हैं, क्योंकि आज माँग पाठकों से की जाती है कि वे रचना को पाएँ, न कि रचना से कि वह उसके लिए सुगम हो। आज का कथा साहित्य पाठक से आयास की अपेक्षा करता है। पाठक रचना को पूरी तरह ग्रहण नहीं कर पाता तो इसमें असमर्थता पाठक की ही मानी जाती है।

आजका कथा साहित्य विशिष्ट हो गया है तो उसे पाने के लिए पाठक को भी विशिष्ट होना पड़ रहा है। किसी रचना को समझने से पहले उसे रचनाकार को समझना होता है, जीवन और जगत के प्रति उसके दृष्टिकोण को जानना होता है। जैनेन्द्रजी से जब मेरी पहले पहल भेंट हुई तो उन्हें समझने की ऐसी ही चेष्टा मैंने भी की।

उपन्यास के प्रति उनका मूल दृष्टिकोण जानने के लिए मैंने पूछा, 'आपके विचार से उपन्यास मनोरंजक भी होना चाहिए या सप्रयोजन ही। वैसे, मनोरंजन भी तो अपने में एक प्रयोजन हो सकता है?"

जैनेन्द्रजी बोले, "मनोरंजन साहित्य की शर्त तो है, क्योंकि नीरस होकर कोई वस्तु हमारी वृत्तियों को जड़ तक नहीं पहुँच सकती, पर मनोरंजन ऐसा भी हो सकता है, अधिकांश होता है, जो प्रतिक्रिया में अवसाद छोड़ जाए। इसी से मनोरंजन के सामयिक और स्थायी ऐसे दो भेद किए जा सकते हैं। जो सामयिक है, वह इंद्रियों को बहलाकर रह जाता है गम्भीर तृप्ति उसमें नहीं प्राप्त होती। सस्ता मनोरंजन इसीलिए पीछे ग्लानिकर लगने लगता है। साहित्य में यदि प्रयोजन है तो वह मनोरंजन से अलग नहीं दीख सकता। या कहो कि उसका प्रयोजन उस रंजन की सृष्टि है जो इन्द्रियों के साथ मन को और मन के बाद

आत्मा को भी रंजित करता है। इसलिए उसकी प्रतिक्रिया नहीं है। वह स्थायी है, लगभग ब्रह्मानन्द है।"

बात चलते-चलते जैनेन्द्रजी के अपने उपन्यासों पर आ टिकी। तब मैं सीधे उन्हीं की रचनाओं पर प्रश्न करने लगा। मेरा पहला प्रश्न था, "आपके औपन्यासिक पात्रों का आधार यथार्थ जीवन है या कल्पना, अथवा दोनों?" जैनेन्द्रजी ने कहा, "अगर उपन्यास जीवन के विकास के लिए है तो यथार्थ उसकी मर्यादा नहीं बन सकता। वास्तविकता का धरातल उससे उठेगा जो स्वयं ऊँचा होगा। इससे उपन्यास को वास्तविकता पर नहीं, उससे ऊँचे पर होना होगा।

"अपने पात्रों के चयन या चरित्रचित्रण में मुझे जीवित व्यक्तियों का ध्यान रहता हो, यह बात नहीं है। हां, 'त्यागपत्र' और 'कल्याणी' के 'प्रारम्भिक' से मेरे पाठकों को ऐसा भ्रम हो जाए तो यह अलग है। पर वे प्रारम्भिक भी तो उपन्यास का अंग हैं अर्थात् कल्पित हैं। अपने को बचाने की दृष्टि से मैंने यह उपाय अपनाया। यानी मैं कहानी में लिपटा न समझा जाऊँ, अलग और अलिप्त समझा जाऊँ। इसलिए ये प्रारम्भिक कथावस्तु के साथ जड़े गए। लोग पुस्तक से उलझें, मुझ व्यक्ति को तो चैन से रहने दें। अतः पाठक को भरमाने की नीयत से ही वे बन आए।"

मैंने अगला प्रश्न किया, "आपके उपन्यास के अधिकांश नायक, नायिकाओं की अपेक्षा कमज़ोर क्यों होते हैं?" उत्तर में जैनेन्द्रजी बोले, "प्रेम की ज्योति और जीवन के आनन्द की शक्ति को प्रदान करने का वरदान विधाता ने नारी को ही सौंपा है, ऐसा मैं मानता हूँ। पुरुष का विकास नारी को अपनाए बिना हो सकेगा, इसमें मुझे संदेह है। बाहर से गतिमय दीखने पर भी पुरुष अन्तर में स्थिर है, गतिहीन है। और स्त्री बाहर से स्थिर दीखने पर भी गतिमती है। इसलिए पुरुष को गतिमय और कर्ममय होने के लिए नारी से अभिन्नता पाना आवश्यक है। नारी से नहीं तो नारीत्व से। इसी से मेरे पुरुष पात्रों को सफल और समग्र होने के लिए स्त्री पात्रों की ओर देखना पड़ता है। पुरुष अपूर्ण है, नारी भी। पूर्णता का नाम 'अर्धनारीश्वर' है।'

इस पर मैंने पूछा, "नायक ही क्यों, आपके उपन्यासों की नायिकाएं भी तो परवश हैं। अपनी इच्छाशक्ति और बुद्धि से वे काम लेने की चेष्टा नहीं करतीं तो क्या इसका भी यही कारण है?" जैनेन्द्रजी बोले, "उपन्यास के बारे में मेरी अपनी धारणा यह है कि वह जीवन में गति देने के लिए है। गति यानी चैतन्य। गति धक्के की नहीं। समाज की आज की रीतिनीति को ध्वस्त करने का कोई क्रान्तिकारी लक्ष्य उपन्यास अथवा साहित्य का नहीं हो सकता, क्योंकि स्थिति उखड़ी तो गति औंधी गिरी। पर आज की रीतिनीति में बन्द होकर बैठना भी तो नहीं हो सकता। इसके प्रति आलोचना और अतृप्ति की वृत्ति आवश्यक है।

"मेरे मानस में, उनमें भी अधिक नायिकाओं में यह वृत्ति मिलेगी। कट्टो, सुनीता कल्याणी आदि अपने समाज की संकीर्ण रीति-नीति से असंतुष्ट होने पर भी उसके प्रति विद्रोह नहीं करती। विद्रोह का सामर्थ्य रखते हुए भी वे ऐसा नहीं करतीं, क्योंकि विद्रोह और क्रान्ति में गति प्रतिक्रियात्मक है और वे उसमें समाज का हित नहीं देखतीं। उनका विश्वास है कि समाज की रीतिनीति को सीधे भंग करने से उसकी गति रुकेगी। 'त्यागपत्र' की नायिका मृणाल भी समाज के प्रति विद्रोह नहीं करती। ऊपर से ऐसी दीख पड़े, यह बात अलग है। समाज में विकास ताप से नहीं, तप से होगा। कष्ट देने से नहीं, स्वेच्छा से कष्ट सह लेने से होगा। स्त्री दूसरे पर अपना वश न चलाकर स्वयं ही अपने वश में रहेगी। अपने पति द्वारा उत्पन्न परिस्थितियों को वह बिना संकोच के स्वीकार कर लेगी। तभी तो, जब उसका पति स्वयं ही उसे अलग मकान में पटक गया और साथ ही अपने स्वामीत्व के अधिकार को उस पर से उठा गया तो वह जबरदस्ती, पति की इच्छा के विरुद्ध, अपने को उसकी पत्नी कैसे मानती रहे? वह अपने पति पर किसी प्रकार का आरोप और जबरदस्ती नहीं करती। जब उसके पति ने स्वयं ही उसे उसपर छोड़ दिया तो वह उसकी मनचाही करने में ही पति की पूर्ति क्यों न समझे? ऐसा करके उसने समाज द्वारा निर्धारित पतिव्रत धर्म की अवहेलना की भी तो क्या उसे मूल नैतिकता के प्रति भी विरोध या विद्रोह कहा जाएगा?"

सामाजिक न्याय की चर्चा छेड़ते हुए मैंने पूछा, "अपनी रूढ़ नैतिक दृष्टि से समाज जिन्हें अपराधी ठहराता है, उन्हें ऐसा बना देने के लिए क्या आप समाज को जिम्मेदार नहीं समझते?" उत्तर में अग्रसर कर जैनेन्द्रजी बोले, "दुनिया में कौन है जो बुरा होना चाहता है और कौन है जो बुरा नहीं है, अच्छा ही है। समाज अपनी रूढ़ नैतिक दृष्टि से यदि किसी को ठीक-ठीक न पहचानता हुआ, पापी अपराधी समझकर उसे अपनी सहानुभूति देने से इन्कार करता है तो इसके लिए दोषी, उसकी अपनी दृष्टि है। 'बुरा जो देखन मैं गया, बुरा न दीखा कोय'—क्या वह दृष्टि दूषित नहीं जो दोष देखती है। इस रुग्ण दृष्टि का इलाज तो केवल एक है कि हमारी दृष्टि अपने ही दोष देखे। दूसरे के दोष या पाप को, उसमें आत्मीयता स्थापित कर, अपना समझने लग जाए। तब हमारी दृष्टि में कोई पापी रहेगा ही नहीं।"

यह उत्तर सुनकर मुझे रूसी उपन्यासकार दॉस्तॉएव्स्की का स्मरण हो आया और मैं बरबस पूछ बैठा, "इस दृष्टि से आपको दॉस्तॉएव्स्की कैसा लगा?"

जैनेन्द्रजी ने कहा, "दॉस्तॉएव्स्की मुझे विशेष प्रिय हैं। वह संसार की बात कम कहता है, संसार उसे इष्ट नहीं जान पड़ता। उसके द्वारा मानो वह हमारे भीतर सोई हुई वेदना को जगा देने से संतुष्ट है। वह अनवेदना सहानुभूतिमयी है। उसमें व्यक्ति अपने को दूसरे से अलग या ऊपर मानना भूल जाता है। जगत

में हम अपने मान को इतना अधिक अपने पास रखते हैं कि दूसरों को सही समझ नहीं पाते। इस तरह हमारे बीच एक अपराधी और उच्छिष्ट वर्ग खड़ा हो जाता है। कानून के जरिए हम उसे अपने से दूर रखते हैं या दण्डित करते हैं। ऐसे, असल में हम अपनी श्रेणी और संभ्रान्तता की रक्षा करते है।

"दॉस्तॉएव्स्की जैसे हमारे ऊपर से इस आरोपण के आवरण को अपनी कलम की नोक से जगह-जगह ऐसा छेदता है कि हमारी व्यथा बन्द न रहकर बाहर की ओर सहानुभूति बन कर फैलने को मजबूर हो जाती है। जो परित्यक्त थे, समाज के जूठन बने हुए थे, वे हमारे सामने दूसरे प्रकाश में बदले हुए दीख आते हैं और हमें हठात् लगता है कि वे हमसे कम नहीं, शायद अधिक ही इन्सान है। इस शक्ति के लिए मैं दॉस्तॉएव्स्की का कृतज्ञ हुए बिना नहीं रह पाता। फिर कला की और विज्ञान की उसकी दूसरी त्रुटियों की मुझे परवाह नहीं रहती।"

चर्चा को समाप्ति की ओर मोड़ते हुए मैंने पूछा, "तो क्या आपके विचार में पात्रों के चरित्रचित्रण का यही स्वरूप होना चाहिए?" जैनेन्द्रजी बोले, "चरित्रचित्रण को मैं पूरा समझ या पकड़ नहीं पाता। किसी एक का चरित्र अपने आप में क्या होता है? सदा वह दूसरे या दूसरों की अपेक्षा में खुलता है। एक ही व्यक्ति कुछ के प्रति कठोर और कुछ के प्रति कोमल दीख पड़ता है। इस-लिए, किसी के अपना चरित्र होने में मुझे विशेष अर्थ नहीं जान पड़ता। इस दृष्टि से कहूँ तो मुझे चरित्रचित्रण की कभी चिन्ता ही नहीं रही। मैंने पात्रों को खड़ा करना नहीं चाहा, उनके अपने अलग-अलग चित्रों से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं। वे आपसी घातप्रतिघात द्वारा कुछ प्रतिफलित करते हैं। सारे प्लाट में से जैसे कुछ मन्तव्य ऊपर आता हुआ दीख पड़ता है। मेरा ध्यान उधर है। इसमें चरित्रचित्रण यदि हो जाता है अथवा वह सही होता है या गलत, इसका मुझे पता नहीं।"

२९-८-१९५२]

o

२

अज्ञता मे सर्वाधिक सुरक्षा

साहित्यकार अपनी कृति का स्रष्टा है उसका पिता है। वह उसे रूप और आकार ता देता ही है, उसमे प्राण प्रतिष्ठा करने वाला भी वही है। कृति के व्यक्त होने का वह निमित्त ही नही, उसका मूल कारण भी है। यह सब तो वह है ही। पर क्या कृति और कृतिकार मे सृष्टि और स्रष्टा का ही नाता है या कुछ और भी ? रचना साहित्यकार की सृष्टि ही हो सकती है, इससे अधिक कुछ नहीं ? जिस कृति को रचता रचता वह पूरी तरह खो जाता है, व्यक्तिगत राग-द्वेष, सुख-दुःख और भाव अभाव को भूल, व्यष्टि की सीमा लाघता हुआ समष्टि मे फैलने लगता है, उस कृति ने कृतिकार को थोडा भी न रचा हो, यह कैसे हो सकता है ?

सच्चा साहित्यकार अपने को जीवन और जगत के प्रति खुला छोडकर जीता है और रचना करते समय अपने को भीतर के प्रति बन्द नहीं होने देता। एसा साहित्यकार जो जीवन मे पाता है, उसे रचना मे ढाल देता है और जो रचना-प्रक्रिया मे पाता है उसे जीवन और जगत मे लुटा देता है। यह क्रम उसके जीवन को गतिमान और रचनाओ को जीवन्त बनाए रखता है, उनमे मतवाद की कट्टरता और पूर्वाग्रह की जडता नही आने देता। रचना प्रक्रिया म भी जो मतवाद की कट्टरता से मुक्त नहीं हो पाते, उन्हे साहित्य की ओट छोड सीधे दर्शन मे नही आ जाना चाहिए क्या ?

ये और इस प्रकार के अनेक विचार कई दिनो से मस्तिष्क म चक्कर काट रहे थे। इसी बीच जैनेन्द्रजी से भेंट हो गई। मैंने ये विचार उनके सामने रखे और इनके सदर्भ म उनकी रचनाओ पर उनसे चर्चा करने की इच्छा व्यक्त की जिसे उन्होंने सहर्ष मान लिया। चर्चा के लिए दिन और समय भी तभी निश्चित हो गया। मिलते ही मैंने पूछा, "तो हो जाए चर्चा आरम्भ ?" उत्तर म उन्होंने होठों पर मुस्कराहट की एक क्षीण रेखा लाते हुए "मैं आक्रमण झेलने को उद्यत हूँ" कुछ इस लहजे म कहा मानो तात्विक चर्चा के लिए वह उत्कण्ठित रहते हो।

भूमिका बाँधते हुए मैंने पूछा, "कहानी या उपन्यास लिखने की प्रेरणा आपको अधिकाशत जीवन और जगत से सीधे मिलती है या उनके प्रति बन चुके अपने किसी दृष्टिकोण से ?" जैनेन्द्रजी बोले, "बन चुके दृष्टिकोण को फिर फिर कर

संवरते रहना होता है। अर्थात् दृष्टिकोण कितना भी स्थिर हो नये आते हुए अनुभवों से संस्कार प्राप्त करता ही है। जीवन और जगत् से आने वाला प्रभाव संवेदना को मिलता है। वहां से फिर जिसे दृष्टिकोण कहा उसमें रचता-पचता है। कहानी-उपन्यास मेरे लिए केवल भाव-क्षेपण नहीं हैं, अर्थ की खोज भी है। उस व्यंजना में दिशा होती है और वह विचार से आती है। विचार मनोदृष्टि से स्वतन्त्र नहीं हुआ करता। मैं मानता हूँ कि यदि उसके पीछे दृष्टि या विचार न हो तो रचना में बहुत भावुकता होने पर भी अर्थ की उतनी गरिमा नहीं हो सकेगी। प्रभाव की इसे अन्विति कहते है या एकाग्रता और एकत्रता कह सकते है। वह उस विचार में से आती है जो रचनाकार में पहले से भी उपस्थित रहता है और स्वयं घटना और रचना में से अपना समर्थन-प्रकाशन चाहता है। घटना को मैं जीवन और जगत् की ओर से आनेवाले प्रभाव का निमित्ति कहता हूँ।"

बोलते समय जैनेन्द्रजी की आँखें मुझसे हट कर सामने दीवार पर टिक गई थी, पलकें झुक गई थीं और वे भावलोक में इतना खो गए थे कि न 'टाइप' मशीन की टकाटक उनके चिन्तन में बाधक हो सकी थी और न ही सामने बैठा मैं। अबाध गति से उनका मुखर चिन्तन चल रहा था। फिर धीरे-धीरे जैनेन्द्रजी का मुँह मेरी ओर फिरा, अधमुँदी आँखें खुलीं और मुझपर आकर टिक गई मानों वे आँखों ही आंखों में मुझसे पूछ रहे हों, "मिल गया आपके प्रश्न का उत्तर ?" मैंने भी बिना बोले स्वीकृति मे सिर हिला दिया।

विषय को आगे बढ़ाते हुए मैंने प्रश्न किया, "जिसे आपने मनोदृष्टि कहा है साहित्यिक कृति के माध्यम से आप प्रायः उसकी पुष्टि करने की चेष्टा करते हैं या उसकी जाँच की ओर भी अग्रसर होते है ?" जैनेन्द्रजी ने कहा, "प्रायः पुष्टि करता हूँ। जांच करने का साधन इंद्रियों से प्राप्त होने वाले जगत् विवरण के पास होता ही नहीं है। जांच का साधन यदि हो तो स्वयं अन्तरगता के पास है, बाह्य प्रसाधन (डेटा) के पास नहीं है। यह सच है कि मैं श्रद्धा से चलता हूँ। श्रद्धा के पास शायद कुछ गृहीत मान्यता रहती है। इंद्रिय बोध द्वारा जितनी भी बाह्य सामग्री पहुँचती है उस सबमें मानो बुद्धि फिर चुनाव और छँटाव करती है। यह सब बुद्धि का कार्य श्रद्धा से स्वतन्त्र नहीं हुआ करता। बल्कि श्रद्धा के अनुसार ही होता है। लेकिन श्रद्धा मत कट्टरता से सर्वथा भिन्न वस्तु है। मत-जड़ता प्रश्न का स्वागत नहीं करती। श्रद्धा के लिए प्रश्न भोजन है। इस तरह बुद्धि श्रद्धा को काटती नहीं, न उसे संस्कार-परिष्कार देती हुई कही जा सकती है। वह तो श्रद्धानुसारिणी ही होती है। चिन्मय श्रद्धा नित्य अपने मे से आत्मसंस्कार पाया करती है। इसमें व्यक्तित्व का वह अंग सहकारी होता है जो तर्क-बुद्धि से गहरे व्यथा के स्तर पर काम किया करता है। श्रद्धा आत्म-व्यथा में से स्नान कर नित नूतनता पाती रहती है। बाहरी घटनाएँ इस श्रद्धा में से स्वयं अर्थ लेतीं और अपना सच

देकर उस श्राद्ध दर्शन की ओर पुष्टि कर जाती है। इससे अन्यथा शायद वह कर नहीं सकती।"

लेखन प्रक्रिया के माध्यम से आत्मान्वेषण और उसके फलस्वरूप लेखक के जीवन दर्शन में होने वाले रूपान्तर की ओर चर्चा को मोड़ते हुए मैंने पूछा, "जिस श्रद्धा को लेकर आप साहित्य-सृजन में प्रवृत्त होते हैं, उसमें यदि मत की कट्टरता या मताग्रह का लेश भी नहीं तो जाने या अनजान आपके मनोदर्शन की जाँच तो होती ही रहती होगी?" प्रश्न को और स्पष्ट रूप देते हुए मैंने पूछा, "अपनी किसी कृति को लिखते समय या पूरा करके क्या आपने कभी ऐसा भी महसूस किया कि जिस दृष्टिकोण को लेकर वह चली थी उसमें पर्याप्त हेर फेर की गुंजाइश है?" इसके उत्तर में जैनेन्द्रजी ने यों कहा, "हाँ, कोई रचना ऐसी नहीं है जो मेरे हाथ आए और बदली न जाए। बार बार आए तो बार-बार बदलने की इच्छा होती है। इसलिए कोशिश करता हूँ कि छपने पर रचना फिर मेरे सामने आए ही नहीं। यह फेर फार करने की इच्छा क्यों होती है? आखिर इसलिए हो सकती है कि व्यक्तित्व और जीवन एक क्षण के लिए भी गतिहीन नहीं होता है। हाँ, सृजन में आलोचन गर्भित हुआ चलता है। इसीलिए सृजन कोई सरल व्यापार नहीं है। बड़ा कष्टदायक अनुष्ठान है। कष्ट मुख्यतः से इसी दांतेदार आलोचना में से आता है जो आरे की तरह से बराबर चीरती रहती है।

"जो बात ध्यान देने की है और जिसे मैं महत्त्व की मानता हूँ वह यह कि आलोचना वह अन्तर्मन और अन्तर्विवेक से आती है। बाहर से आई हुई कुछ भी सामग्री उसके लिए सहायक नहीं हो पाती। उपदेश आदेश अथवा ज्ञान-विज्ञान की आज्ञा अनुज्ञा वहाँ सांत्वना देते नहीं। ऊपर से आई सीख एकदम असंगत जान पड़ती है। उपदेश की जो अवज्ञा होती है सो इसी कारण कि चैतन्य का परिष्कार अन्य की ओर से नहीं बनता। उसे आत्म की ओर से ही आना होता है। आत्माभिव्यक्ति में आत्मालोचन अनिवार्य हो है। इसलिए वह श्रद्धा जिसमें मत की जड़ता का अवशिष्ट रह गया है साहित्यिक सृजन में से मानों स्वयं आवश्यक परिहार प्राप्त करती है। एक साहित्यिक कृति का प्रभाव यदि और उतना ही होगा जितना सहानुभूति का प्रवाह वहाँ खुला रह सका और मतकाठिन्य कहीं रोध नहीं बन सका है। अवरोध यदि कहीं वह बना हो तो साहित्यकार और साहित्य रसिक उसे तत्काल अनुभव करेगा और इस प्रकार स्वयं उस साहित्य कृति द्वारा कट्टरता से मुक्ति का उपाय हो चलेगा।"

जैनेन्द्रजी पहले कथाकार हैं जिन्होंने हिन्दी के पाठक को घिसी पिटी नैतिकता की संकीर्णता से निकालकर उसे मूल नैतिकता तक पहुँचाने वाले आत्मचिन्तन की ओर प्रवृत्त किया। उन्होंने पाठक से अनुरोध किया कि वह सामाजिक मूल्यों के बाहरी रंग रूप में न उलझा रह कर उनकी आत्मा तक पहुँचने की चेष्टा करे।

अपनी चिरपोषित मान्यताओं को इस प्रकार झुठलाया जाता देख पाठक झुँझला उठा। जैनेन्द्रजी की चुनौती में सार देखते हुए भी इस झुँझलाहट में उसने जैनेन्द्र जी पर सूय छींटे कसे। परिणामतः उनकी रचनाओं को वह आदर न मिल सका जो उन्हें मिलना चाहिए था और जैनेन्द्रजी पर चारों ओर से आलोचना के तीखे वाण वरसने लगे। किसी ने आवाज उठाई, "नैतिक आदर्शों को जैनेन्द्र के उपन्यासों में कोई स्थिर मान्यता प्राप्त नहीं। उनका दर्शन सामाजिक जीवन से पलायन का दर्शन है।" किसीने कहा, "जैनेन्द्र के उपन्यास पहेली हैं। इस प्रहेलिका पर हम सोचते ही रह जाते हैं, कुछ पार नहीं मिलता, कुछ भेद नहीं पाते।" यहाँ तक कि 'कल्याणी' के बाद जब जैनेन्द्रजी ने लगभग चौदह वर्ष तक कोई उपन्यास नहीं रचा तो आलोचकों ने उनके उपन्यासकार-रूप की मृत्यु पर शोक मनाना आरम्भ कर दिया। फिर जब 'धर्मयुग' और 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' में क्रमशः 'सुखदा' और 'विवर्त' निकलने लगे तो उन्हीं लोगों ने कहना शुरू किया कि जैनेन्द्रजी ने जो देना था वह तो 'सुनीता' और 'त्याग-पत्र' में ही दे दिया, 'सुखदा', 'विवर्त' और 'व्यतीत' उन्हीं का रूपान्तर है, कोई नई चीज नहीं।

इसी पृष्ठभूमि पर मैंने सकुचाते हुए प्रश्न किया, "अभी-अभी आपने बड़ी मार्के की बात कही है कि श्रद्धा आत्म-व्यथा में से स्नान करके नित नूतनता प्राप्त करती है। परन्तु 'सुनीता', 'सुखदा', 'विवर्त' और 'व्यतीत' की नायिकाओं का समान्तर विकास और उपन्यास समाप्त होते-होते उनके एक ही रूप का उभरकर सामने आना क्या इस बात का द्योतक नहीं कि इन उपन्यासों का अन्त एक ही निष्कर्ष में हुआ है?"

प्रश्न बेहद तीखा था। कोई भी लेखक ऐसे प्रश्न से झुँझला सकता था। वातावरण में कटुता भी आ सकती थी। पर तनिक भी उत्तेजित हुए बिना जैनेन्द्रजी उसी शान्त और संयत स्वर में बोले, "दो व्यक्ति सृष्टि में कभी पूरे एक समान नहीं होते। न रचना में दो पात्र बिलकुल एक हो सकते हैं। समान जैसे दीखते हों पर होते नहीं हैं। जिन उपन्यासों का आपने नाम लिया उनकी नायिकाओं में आप चाहें तो अन्तर देख सकेंगे। मेरे उपन्यासों में अन्तिम परिणति यदि कुछ एकोन्मुखी दीखती हो तो हाँ वह हो सकता है। मेरे लिए अन्त में सब बातें एक बड़े प्रश्न और बड़े धर्म में समाई हैं। वह यह कि ले-देकर अहं को अखिल में खो रहना है। समस्या मूल यह है कि व्यक्ति है। व्यक्ति की मालूम होती है लेकिन यह सृष्टि की समस्या है। इसलिए जो निदान समस्या के बाहर देखता है, देश और काल में देखता है, वह रोग के लक्षणों को पकड़ता है, मूल तक नहीं जा पाता। राजनीति और दूसरी कार्मिक प्रवृत्ति उसी तरह चलती है। मुझे वहाँ समाधान नहीं जान पड़ता। इसलिए शायद मेरी सब कहानियाँ अन्त में जैसे कुछ एक ही अनुत्तर में आकर समाप्त होती है। इसके अतिरिक्त शायद उन रचनाओं

में समानता न भी दर्शाई जा सके, पर वह सब विचारणीय नहीं है।"

विषय का धाम बनाने की दृष्टि से मैंने पूछा, "अब तक आप अपना जीवन-दर्शन, या कहें ही पद्धति में मनोदर्शन, अधिकांश साहित्य के माध्यम से अभिव्यक्त करते आए हैं। क्या कभी आपको ऐसा भी लगा कि यदि वह साहित्य की आड़ छोड़ अथवा वास्तविक रूप में सीधा पाठकों के सामने आया होता तो बेहतर होता?" जैनेन्द्रजी ने कहा, 'नहीं अपनी ओर से तो नहीं लगा। लेकिन कहानी-उपन्यास पढ़े जाते और सराहे भी जाते हैं। तब प्रश्न होता और मुझ तक भेजा जाता है कि इस वाक्य का अर्थ क्या है या उस प्रसंग का भाव क्या है। तब मालूम होता है कि जीवन का प्रश्न जानकारी का बन गया है और जो झेलने और सहने के लिए था वह समझने-समझाने का बना जा रहा है। मैं मानता हूँ कि जीवन के सवाल को जानने का बनाना जीवन से बचना है। शायद जो कठिन है उसे ऐसे हठात् आसान बनाया जाता हो। फिर भी यह करना पड़ता है। लेकिन इस काम का मूल्य दोयम है। प्रथम जीते-जागते पात्र प्रतीकों की सृष्टि है। शब्द सिद्धान्त का चलन पीछे आता है।

'फिर भी मुझे कथा-नगर को छोड़कर शुद्ध विचारक को अपनाने वाले लोग मिल जाते हैं। ऐसे लोग प्रतिष्ठा प्राप्त और गम्भीर हुआ करते हैं। अनेक हैं जिन्होंने कहानी मेरी एक भी नहीं पढ़ी है, न पढ़ेंगे। निबन्ध पढ़ते हैं और उसी को पढ़ने योग्य मानते हैं। बहुत हैं जो ताज़ा हालत में फल पसन्द नहीं करते, सिर्फ सूखी मेवा के कायल होते हैं। मानना होगा कि फल जल्दी रस छोड़ देता है। सूखी मेवा को बनाए रखा जा सकता है। जिसमें से जान सूख गई है उसमें आगे फिर मरना शेष कहाँ रह जाता है। ऐसे ज्ञान अधिक जी जाता है। क्योंकि बेजान होने से तो उसके जीवन का आरम्भ है। मैं उस काम में पड़ा हूँ। क्योंकि युग बुद्धिवादी है और मैं उस युगरोग से बचा हुआ नहीं हूँ। अपेक्षाकृत यह काम आसान भी होता है। कहानी में आने से ज्यादा लड़ना-झगड़ना पड़ता है और वह चीज़ हल्की दीखने पर भी मुश्किल होती है। मर्म का रस मुझे उसी में मिलता है। और बड़ी सुविधा यह है कि कहानी में व्याख्या आवश्यक नहीं हुआ करती है। फिर भी दिमाग़ी लोग व्याख्याओं पर चलते और चलाते हैं। इसमें उसका भी चलन और उपयोग हो निकलता है।'

जैनेन्द्रजी के इस उत्तर से मुझे लगा कि उनका रुझान सीधे दार्शनिक साहित्य लिखने की ओर बढ़ रहा है। यह जानने के लिए कि वह इस क्षेत्र को अपनाने की सोच ही रहे हैं या इसमें प्रवृत्त भी हो चुके हैं मैंने प्रश्न किया, "इससे ऐसा प्रतीत होता है कि आपका शुद्ध विचारक रूप देखने को मिलेगा और शायद शीघ्र ही। यदि यह सच है तो बताने की कृपा करें कि वह कब और किस रूप में सम्भव हो सकेगा।" जैनेन्द्रजी बोले, 'विचारक रूप मुझे सन्देह है कि शुद्ध हो सकता

है। विचार में वह सत् कैसे आए जो चित् भी है। आनन्द में सत्-चित् एक साथ प्रकट होते हैं। सत्य का शुद्ध रूप सच्चिदानन्द है। सच्चिदानन्द का प्रकाश जीवन से भले मिल सकता हो, विचार में तो पूरा मिल नहीं सकता है। क्या आप विश्वास करेंगे कि जिसका मैं सबसे अधिक अविश्वास करता हूँ वह विचार और विचारक है। मैं उससे हमेशा बचता हूँ। विचार को भरसक पास नहीं फटकने देता। प्रार्थना का कायल हूँ और प्रार्थना को इसी काम में लेता हूँ कि उसके सहारे विचार परे हटा रहे। मुझे अज्ञता में सबसे अधिक सुरक्षा मिलती है। विज्ञता से सबसे अधिक डर लगता है। पर बात-चीत जो लोगों के साथ अकल की करनी पड़ती है सो उस मुसीबत का क्या किया जाए? सावधान रहें आप कि वह मुसीबत बाहर आनेवाली है। एक बन्धु आए अपने लिए पर बात-चीत का सिलसिला जो चला तो उसमें उन्हें ज्ञान झलकने लगा। इसे विडम्बना ही कहिए। पर उनको बात-चीत में रस आता गया। ऐसे शुरू हुई चर्चा को वह कागज पर टाँकने लगे। होते-होते पुस्तक क्या बनी है, एक ग्रंथ ही बन आया है। मुझ से छोटी-छोटी रचनाएँ हो सकी हैं। यह चीज पाँच सौ पृष्ठों से ऊपर चली गई होगी। मालूम होता है कुछ अब भी उन मीमांसक बन्धु में बाकी है। दो-चार बैठकों में वह निबटा कि प्रकाशक उसे छपने भेज देना चाहते हैं। उसमें सब तरह के मोटे-बारीक, आकाश-पाताल के सवाल हैं सामयिक, सामाजिक और राजनीतिक जैसे वास्तव प्रश्न हैं तो आन्तरिक, आत्मिक और पारमात्मिक जैसे अवास्तव प्रश्न भी हैं। प्रश्नकर्ता बन्धु ने अपने को और मुझको छोड़ना नहीं, मेरे में सबकुछ ले लेना चाहा है। मैं उनके अध्यवसाय की प्रशंसा करता हूँ और इस बात की भी कि उन्होंने अपनी मानसिक कुरेद को सब ओर फेरा है। मेरे साथ इसमें सचमुच बुरी बीती है। बुरी इसलिए कि सिर्फ इस नाते कि उम्र में बड़ा हूँ और मेरे नाम पर कुछ किताबें चलती हैं मुझे उनके साथ चर्चा में सहिष्णु और सहयोगी होना पड़ा है। इस महा मिथ्या को सिर पर उठाना पड़ा है कि मैं जानता हूँ।"

ग्रन्थ के बारे में कुछ और जानकारी पाने के लिए मैंने पूछा, "इसका मतलब तो यह हुआ कि पुस्तक लगभग पूरी हो चुकी है और चार-छ: महीने में प्रकाशित हो जाएगी। भला यह तो जानूँ कि आपने इसका नाम क्या रखा है।" जैनेन्द्रजी ने इसका उत्तर यों दिया "नाम बना है 'समय और हम'। 'हम' में आत्मपरक का निर्देश है तो 'समय' में वस्तुपरक का। दोनों उस शीर्षक में अन्योन्याश्रित और परस्परता में युक्त हैं, अलग और विलग नहीं हैं। पर सामयिक अभ्यर्थ भी पुस्तक में है, इसलिए जी में इतना अवश्य आता है कि वह आधुनिक चेतना पर जाकर लगे और यदि हो तो वहाँ कुछ खलबली भी पैदा कर दे।"

२७-७-१९६१]

०

डा० हरिवंश राय 'बच्चन'

तीर पर कैसे रुकूँ मैं, आज लहरों में निमन्त्रण

बच्चनजी हिन्दी-कविता में नया ही रंग लेकर आए। उनके साथ मस्ती का एक आलम था। जब वे जवानी की उमंग में भरकर अपने सुललित कंठ से 'मधुशाला' को सस्वर सुनाते तो समा बँध जाता, श्रोताओं के झुंड के झुंड झूम उठते। युवक ही नहीं, बड़े-बूढ़े भी झूमा करते बैठते। 'मधुशाला', 'मधुबाला' और 'मधुकलश' का कवि यौवन के ज्वार का कवि था, सुखी जीवन के उल्लास का कवि था। तभी तो वह कह सका—'है आज भरा जीवन मुझमें, है आज भरी मेरी गागर'।

फिर, जीवन ने पलटा खाया। अनभ्र वज्रपात हुआ। जीवन के स्वर्णिम प्रभात पर अवसाद की काली घटाएँ घिर आईं। वसन्त-सेवित सपनों का उद्यान उजड़ गया। कवि का हृदय क्रन्दन कर उठा—'रह गया मैं और आधी रात, आधी बात।' उसकी समझ में नहीं आता था कि 'अगणित उन्मादों के क्षण हैं, अगणित अवसादों के क्षण हैं, रजनी की सूनी घड़ियों को किन किन से आबाद करूँ।' नियति ने निर्मम होकर उसकी अग्निपरीक्षा ली। उसके सत्य और स्वप्न के संसार को भस्म कर दिया। डूबे हुए दिल से, क्षीणतर होते हुए स्वर में उसने एक दिन यहाँ तक कह डाला—'आओ सो जाएँ, मर जाएँ।'

अपने जीवनकाल में ही बच्चनजी को जितने पाठक और श्रोता मिले हैं उतने शायद ही किसी अन्य कवि को मिले हों। उनकी रचनाओं के पन्द्रह-पन्द्रह संस्करण निकल चुके हैं। पर उनके अधिकांश पाठकों को कवि का मस्तमग्न रूप ही अभिभूत किए हुए है। उनके निकट बच्चनजी आज भी 'मधुशाला', 'मधुबाला' के मदमस्त कवि हैं, यौवन की बहार के कवि हैं। हाँ, ऐसे लोगों की भी कमी नहीं जो बच्चनजी के अवसाद के भी साक्षी रहे हैं, जिन्होंने उनके 'निशा निमन्त्रण' को पहचाना है, 'एकान्त-संगीत' को दत्तचित्त होकर सुना है, 'आकुल अन्तर' के तूफान को महसूस किया है और जो उनके गहन अवसाद में डूबे उतराए हैं, उनके निकट एकाकीपन के साथी रहे हैं।

मेरे सामने बच्चनजी का एक और रूप भी बार बार उभर आता है और वह है 'अग्निपथ' के ओजस्वी कवि का अपराजेय रूप, जो जीवन के असंख्य आँधी-तूफानों के आगे हिमालय के समान अडिग खड़ा रहा—कभी दबा नहीं, कभी झुका नहीं।

बच्चनजी के मस्तिष्क की कोई शिरा ऐसी भी है जो इस्पात की बनी हुई है, जो सूखना-मुर्झाना नहीं जानती, जो झुकने-मुड़ने को तैयार नहीं। जिस समय वे गहन-तम अवसाद के क्षणों में माँग रहे थे कि 'मुझे खुशी से दो मत जीवन, मरने का अधिकार मुझे दो ! मत मेरा संसार मुझे दो', उस समय भी उनकी आन्तरिक अभिलाषा यह थी कि 'चिता-निकट भी पहुँच सकूँ मैं, अपने पैरों-पैरों चलकर !' तभी तो वे हँसते-हँसते मृत्यु का वरण करके गा सके—'एक मुर्दा गा रहा था बैठकर अपनी चिता पर।'

आज जबकि जीवन जीने और झेलने के बजाय चर्चा और परिचर्चा का विषय बनता जा रहा है, कविवर बच्चन के ये शब्द बार-बार कानों में गूँज उठते हैं: **तीर पर कैसे रुकूँ मैं, आज लहरों में निमन्त्रण।** जीवन-तट पर रुक जाना बच्चनजी के निकट कायरता है और आस्था की डोर पकड़कर भवसागर में कूद पड़ना है उनकी मजबूरी—फिर सामने चाहे यौवन का उल्लास हो या अवसाद का गहनान्धकार, उसकी उन्हें चिन्ता नहीं रहती। बच्चनजी के कवि को उनके काव्य से अलग नहीं किया जा सकता। वे जो जीवन में पाते हैं, उसे कविता में ढाल देते हैं। अनुभूति और अभिव्यक्ति का मणि-कांचनयोग उनके काव्य की उपलब्धि है और यही उनकी कविता की लोक-प्रियता का रहस्य है। बच्चनजी के काव्य पर उनसे चर्चा करने की इच्छा अपने भीतर कई वर्षों से पाले हुए था। पिछले दिनों भेंट हुई तो इसी विषय पर बात चल निकली।

चर्चा का आरम्भ करते हुए मैंने बच्चनजी की रचना-प्रक्रिया जानने के उद्देश्य से पूछा, "रचना-प्रक्रिया के दौरान क्या आपको कभी ऐसा भी लगा है कि बाहर और भीतर की यथार्थताओं के पहले लगाए गए अर्थ फीके पड़ने लगे हैं, उनके स्थान पर नये आत्म-विस्मृतकारी अर्थ उभर रहे हैं और आपको सत्य के निकट से निकट-तर पहुँचने का आभास मिल रहा है ?"

प्रश्न की तह तक पहुँचते हुए बच्चनजी बोले, "रचना-प्रक्रिया के बीच प्रक्रिया का विश्लेषण सम्भव नहीं। बाद का विश्लेषण कुछ हद तक ठीक हो सकता है, पूर्णतया नहीं। कवि का यथार्थ वस्तुगत यथार्थ नहीं, अर्थात् वह वैज्ञानिक का यथार्थ नहीं, और यथार्थ का कवि वह उपयोग भी नहीं करता जो वैज्ञानिक करता है। कवि का यथार्थ उसकी दृष्टि का, उसकी मनःस्थिति का यथार्थ है। दृष्टि और मनः-स्थिति जड़ नहीं है; परिवर्तनशील तो वे है ही; कवि में वे विकासशील होती है, या उन्हें होना चाहिए। तब यथार्थ का बदलते जाना स्वाभाविक ही जान पड़ेगा। लेकिन एक बात समझ लेनी चाहिए कि वैज्ञानिक का यथार्थ अब नया अर्थ लेता है तब वह पिछले अर्थों को झूठा कर देता है। कवि का यथार्थ नये अर्थ लेकर भी पिछले अर्थों को मान्यता देता है, क्योंकि यथार्थ अपने-आप में कवि के लिए साध्य नहीं। काँटे को फूल समझकर वह जो कहता है, वह उतना ही सत्य है जितना वह

जो यह काँटे को काँटा समझकर कहता है। काँटे को फूल समझना और काँटे को काँटा समझना, ये काव्य जगत के समान सत्य हैं। काँटे को काँटा समझना भी, जरा गम्भीरता से सोचें तो, अन्तिम सत्य तो नहीं है। स्वप्न सत्य, अर्द्धसत्य, पूर्ण-सत्य—ये कवि की यात्रा की मंजिलें नहीं हैं। किस सत्य के साथ कवि का भ्रम—आप चाहें तो इसे कवि की सफलता भी कह सकते हैं—कितना अधूरा या पूरा रहा है, यह अधिक महत्व की वस्तु है और उसका निर्णय कवि से ज्यादा अच्छी तरह उसके पाठक कर सकते हैं।"

बच्चनजी के काव्य-संग्रहों के साथ इधर जो भारी भरकम भूमिकाएँ आ रही हैं उनकी सार्थकता के प्रति अपनी जिज्ञासा व्यक्त करते हुए मैंने कहा, "अपनी कविता की आत्म निर्भरता पर आपका सदा विश्वास रहा है और आपने अपने काव्य-संग्रहों को बिना किसी भूमिका के पाठकों के सम्मुख रखा है। पर इधर चार-पाँच वर्षों से आपकी रचनाओं के साथ लम्बी लम्बी परिचयात्मक भूमिकाएँ निकलने लगी हैं—यहाँ तक कि जो काव्य पाँच-छ संस्करणों तक बिना किसी भूमिका के पढ़े और समझे जाते रहे हैं उनके नये संस्करणों के साथ भी आपने व्याख्यात्मक अग्रलेख जोड़ दिए हैं। क्या आपको ऐसा लगा है कि उनका कथन पाठकों तक अविकल रूप में नहीं पहुँचा है जो आपने अब अपनी ओर से व्याख्या प्रस्तुत करने की आवश्यकता महसूस की है?"

वे बोले, "मैं यह मानता हूँ कि कविता में यह क्षमता होनी चाहिए कि वह अपने पाठकों के साथ सीधा सम्बन्ध बना सके। बीच में किसी वक्तव्य, व्याख्या, की आवश्यकता नहीं होनी चाहिए। मेरी कविताओं ने, जैसाकि आपने भी माना है, प्रायः आरम्भ में यह क्षमता सिद्ध की है। बाद के संस्करणों में मेरी ओर से भूमिकाएँ न भी दी जातीं तो कविताओं के समझने में कोई बाधा न उपस्थित होती, ऐसा मैं मानता हूँ। परन्तु सौभाग्य या दुर्भाग्य से मेरे पाठक मेरी कविता में रुचि लेने के साथ मुझ में रुचि लेना आरम्भ कर देते हैं। बहुत से मुझे व्यक्तिगत पत्र लिखते हैं। बहुधा की जिज्ञासाएँ कविता के विभिन्न पक्षों पर होती हैं। कभी-कभी मैंने ऐसा भी अनुभव किया कि कविताओं के विषय में बिल्कुल मौन रह कर मैंने अपने पाठकों की कल्पना पर बहुत जोर डाला है—आखिर सभी पाठक तो एक ही श्रेणी के नहीं होते। जहाँ तक सम्भव होता है मैं अपने पाठकों का समाधान करता हूँ पत्रोत्तर देकर। अपने बाद के संस्करणों की भूमिकाओं में प्रायः मैंने उन्हीं प्रश्नों पर प्रकाश डाला है जिनके विषय में मेरे पाठकों की जिज्ञासाएँ रही हैं।

"एक बात और, पहले मैं अपने पाठकों के सम्पर्क में अधिक आता था। आपस में कही सुनी बातें दूर-दूर तक पहुँच जाती थीं। अब वह सम्भव नहीं हो पाता। इस कारण मैं अपनी भूमिकाओं में अपने पाठकों से मैं कुछ बातें कर लेता हूँ। उन्हें ठीक परिवेश में रख देता हूँ, जब वे कविताएँ पढ़ें और समझें। अपनी भूमिकाओं
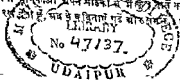
में वक्तव्य या व्याख्या देने जैसा मैंने कोई काम नहीं किया है।"

'सतरंगिनी' बच्चनजी की काव्य-साधना में आए एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन की रचना है। कवि का दूसरा विवाह सन् १९४२ में हुआ और सन् १९४३ में 'सतरंगिनी' प्रकाशित हो गई। लगा, नूतन स्पर्श पाकर कवि घोर अवसाद से तो उबर आया, पर नये वातावरण में वह अभी अपने को अजनबी पाता है—अवसाद से पहले की सुखद अनुभूतियाँ उसे वर्तमान से खींच कर बार-बार अतीत में ले आती है। कवि के इसी द्वैत की ओर संकेत करते हुए मैंने कहा, "'सतरंगिनी' आपके जीवन में आए एक नये मोड़ को व्यक्त करती है। उसके कई गीतों से ध्वनित होता है कि उस मोड़ के प्रति आपके भीतर कहीं बहुत गहरे मे कोई अपराध-भावना, या कहें अटक, काम कर रही है और आपका चेतन उस मोड़ को संगत ठहराने की बार-बार चेष्टा कर रहा है, पर पूरी तरह सफल नहीं हो पा रहा। उदाहरणार्थ, यह पद उल्लेखनीय है :

हाय वे साथी कि चुम्बक-लौह से जो पास आए,
पास क्या आए, हृदय के बीच ही गोया समाए,
वे गए तो सोचकर यह, लौटने वाले नहीं वे,
खोज मन का मीत कोई लौ लगाना कब मना है ?
है अन्धेरी रात, पर दिया जलाना कब मना है ?

कृपया बताएँ, इन कविताओं को पढ़कर क्या आपको भी कभी ऐसा लगा है।"

प्रश्न बेहद तीखा था। मेरी धारणा को झुठलाते हुए बच्चनजी बोले, "'सतरंगिनी' मेरे काव्य-जीवन में एक नया मोड़ उपस्थित करती है, यहाँ तक तो आपका कहना ठीक है। पर उस मोड़ के प्रति मेरे मन में कोई अपराध-भावना काम कर रही है, उसे मैं नहीं मानता। मैं 'सतरंगिनी' के गीतों के द्वारा 'निशा-निमन्त्रण', 'एकान्त संगीत' और 'आकुल अन्तर' की अन्धकार और अवसादपूर्ण परिस्थिति से ऊपर उठा हूँ। अपराध तो होता उस अवसाद-विषाद-निराशा में डूबे रहना। अपने दुःख, शोक की अभिव्यक्ति तक तो ठीक और शायद स्वाभाविक भी है, पर यदि मैं उन्हें दुलारने लगता, जिसका खतरा भी था, तो मेरी भावना आत्म-दया (सेल्फ-पिटी) में बदल जाती और आत्म-दया को मैं सबसे बड़ा अपराध मानता हूँ :

लेकिन एकाकी से एकाकी घड़ियों में,
मैं कभी नहीं बनकर अपना मोह ताज रहा।
('आरती और अंगारे' से)

'अपना मोह ताज' में मैं ध्वनि, श्लेष, संकेत से इसी 'सेल्फ पिटी' की ओर इशारा कर रहा हूँ।

"मैं समझता हूँ कि जब मेरी जिजीविषा अन्धकार से प्रकाश की ओर गई, तब

मेरे कवि ने 'सतरंगिनी' के गीतों में मुझे सम्भाला, मुझे बल दिया, मुझे प्रोत्साहन दिया। मैं 'सतरंगिनी' के गीतों को अपने सब से अधिक स्वस्थ गीतों में समझता हूँ। 'अपराध भावना' आपने बहुत गलत शब्द इस्तेमाल किया है। मैं तो अपराध भी अपराध भावना से नहीं करूँगा—उसे अपने तन मन-प्राण की कोई अनिवार्य आवश्यकता ही समझूँगा।"

चर्चा को बच्चनजी के काव्य में इधर उत्तरोत्तर बढ़ती हुई बौद्धिकता की ओर मोड़ते हुए मैंने कहा, "गीत आपके काव्य का प्राण है। 'मधुबाला', 'मधुशाला' और 'मधुकलश' के गीतों का उल्लास तथा 'निशा निमन्त्रण', 'एकान्त संगीत' और 'आकुल अन्तर' के गीतों का अवसाद पाठक के मन और प्राण में बसता चला जाता है और वह आत्मविभोर हो उठता है। पर आपकी इधर की रचनाओं से लगता है कि आप गीत से दूर हटते जा रहे हैं। क्या यह परिवर्तन इस बात का द्योतक नहीं कि आपकी जीवन-सरिता कंकरीली पथरीली घाटियों से निकलकर अब उथल-पुथल विहीन समतल भूमि में आकर शान्त हो गई है और आपकी अनुभूति की नोक अब इतनी तीखी नहीं रही कि गीत के रूप में फूट निकले ? 'आकुल अन्तर' में आपने ही तो कहा था "भावनाओं का मधुर आधार साँसों से विनिर्मित, गीत कवि-उर का नहीं उपहार, उसकी विवशता है।"

बड़े सहज-भाव से बच्चनजी बोले, "गीत भाव जगत की वाणी है। मनुष्य की भावनाएँ जब तीव्र होती हैं तब वह लयमय हो जाता है। तीव्र भावनाओं को झेलना कठिन होता है। लय उसके झेलने में सहायक होती है। प्रकृति विचलित, व्याकुल, विक्षुब्ध मनुष्य को लय में रख देती है, जैसे माँ रोते बच्चे को पालने में डाल देती है—प्रकृति हमारी माँ है न ? वह एक लय में टहलने लगता है, एक लय में अपनी उँगलियाँ चलाने लगता है। भीतर एक ही प्रकार की बातें बार-बार उठने लगती हैं—वे ही लय में आती और चली जाती और फिर आती हैं। और उस लय से मनुष्य शान्त हो जाता है। यदि उसकी अभिव्यक्ति शब्द में की जाए तो वह स्वभावतः ही गीत का रूप ले लेता है।

'मैंने अपनी तीव्रतम भावनाओं की अभिव्यक्ति गीतों में की है। पर अवस्था के साथ भावों का आवेग घटता है। यौवन में आदमी भावों के साथ जितना बहता है, उतना प्रौढ़ होने पर नहीं। कवि भी जीवन के क्रम को कैसे बदलेगा, उसे तो जीवन के क्रम को ही समझना है। ऐसा होता ही है। उसपर समालोचक और कवि को सिर धुनने से कोई लाभ न होगा। गीत ही लिखते जाने का आग्रह मैंने नहीं किया। कभी वह सहसा मेरी चेतना से भड़ गया। मुझे जो कहना था, वह मैं दूसरी तरह कहने लगा। जीवन की कोई स्थिति परिस्थिति मुझे फिर भाव विह्वल कर सके तो सम्भव है मैं फिर गीत लिखने लगूँ।"

गीत की नई धारा 'नवगीत' के बारे में बच्चनजी की प्रतिक्रिया जानने के उद्देश्य

से मैंने पूछा, "नई कविता और नई कहानी के अनुकरण में आज गीत को भी 'नव' विशेषण देकर उसे परम्परा से अलग करने और दिखाने के जो प्रयत्न हो रहे है उन के विषय में आपकी क्या राय है ?"

अनुकरण की प्रवृत्ति को हेय बताते हुए बच्चनजी ने कहा, "'नवगीत' की चर्चा 'नई कविता' के बाद आई, उसमें शायद ही किसी को सन्देह हो। अनुकरण से कोई आन्दोलन नहीं चलते। 'अकविता' आई तो 'अगीत' भी आ धमका। 'अकविता' नाम की एक पत्रिका निकली तो 'अगीत' नाम की एक पत्रिका निकाल दी गई। ऐतिहासिक विकास के क्रम में युग अधिकाधिक बौद्धिक होता जा रहा है। 'नई कविता' उसी बौद्धिकता की उपज है। गीत से जो काम लिया जाता था, वह 'नई कविता' से नहीं लिया जा सकता 'नई कविता' दूसरी ही प्रकार पाठकों को प्रभावित करने का प्रयत्न करती है। 'नई कविता' के नये उपकरणों का प्रयोग करके गीत अपना काम नहीं कर सकता।

"मेरी राय में, गीत के लिए पुराने उपकरण ही अधिक उपयोगी होते हैं। नये उपकरणों के साथ जब संदर्भ, राग, भावनाएं जुड़ जाती है तभी वे गीतों में काम आ सकते है, तभी उनमे भावोद्बोधक शक्ति आती है। गीत का काम है तुरत भावों को उद्बुद्ध कर देना। नये उपकरणों का अर्थ लगाने में बुद्धि फँस गई तो गीत गया, गीत का प्रभाव गया। प्रयोग करने को, गीतों के क्षेत्र में भी, कौन रोक सकता है। प्रयोग का कुछ अच्छा परिणाम भी हो सकता है। पर नये के आग्रह से प्रतीकों, बिम्बो, रूपकों की खोज करना गीत का काम नहीं है। नई अनुभूतियों की अभिव्यक्ति में सहज ही जो नया आ जाएँ, उसका मैं विरोधी नहीं हूँ। परख यही होगी कि नए मे भावों को उद्बुद्ध करने की शक्ति है या नहीं। नहीं है तो ऐसी अभिव्यक्ति को मैं सफल गीत नहीं मानूंगा। गीत को अपनी सीमाएँ समझ लेनी है। आज का बौद्धिक क्षेत्र कम-से-कम अभी इतना व्यापक नहीं हुआ कि वह गीत को सर्वथा निर्वासित कर दे। पूर्णतया कभी कर भी सकेगा, उसका भी मुझे विश्वास नहीं। गीत बौद्धिक होने के प्रयत्न में अपनी हत्या स्वयं कर सकता है।"

नई पीढ़ी के प्रति बच्चनजी का दृष्टिकोण जानने की इच्छा से मैंने कहा, "आज का युवक कवि अपने को इस भरे-पूरे संसार में अकेला और बाकी सब से कटा हुआ पाता है तो आपकी पीढ़ी को उसकी इस अनुभूति पर आश्चर्य होता है। पर 'निशा-निमन्त्रण', 'एकान्त संगीत' और 'आकुल अन्तर' में आपके युवक कवि को जिस घोर एकाकीपन से जूझना पड़ा था, उसे देखते हुए आज के कवि का एकाकीपन कोई नया नहीं लगता। तो फिर, आज के युवक कवि से आप अपने युवक कवि को क्योंकर भिन्न मानते है ? अपने नये काव्य-संग्रह 'दो चट्टानें' में आपने हनुमान और सिसिफस के जिन प्रतीकों का प्रयोग किया है वे कहीं आपकी पीढ़ी

और आज की पीढ़ी के लिए तो प्रयुक्त नहीं हुए ?"

अकेलेपन की व्याख्या करते हुए बच्चनजी बोले, "अकेलापन भी कई तरह का होता है। इसे मैं व्यक्ति की सामाजिकता ही समझूँगा कि वह जड़, रूढ़िबद्ध, पिछड़े समाज से अलग होकर जीवन के मूल्यों को आत्मसात् करने की पीड़ा को झेले। जीवन के मूल्यों से ही इन्कार करके समाज से जो अलगाव झेला जाता है—या जिसका घोर किया जाता है—वह कुछ दूसरी ही चीज़ है। पीड़ा तो व्यक्ति ही भेलता है। मूल्यों में आस्था रखने के लिए पीड़ा का मूल्य देना ही पड़ता है। हनुमान की संजीवनी का पर्वत उठाए फिरना पीड़ाहीन हो, यह मैं नहीं मानता। पर यह शक्य, सम्भव और सहज, यदि सुखद भी नहीं, इसलिए है कि यह पर्वत औरों को संजीवनी प्रदान करता है और संजीवनी प्रदान करना एक वांछित मूल्य है।

"पीड़ा सिसिफस को भी होती है। पर उसका चट्टान बार बार ऊपर ले जाते पहनी है, उससे किसी को कुछ नहीं मिलता है। मैंने यह भी दिखाया है कि अभ्यास से सिसिफस का यह कर्म पीड़ाहीन भी हो सकता है, पर एक व्यर्थ कार्य करने की पीड़ा ही क्या कम है ? मैंने मूल्यहीन श्रम और मूल्यवान श्रम की दो तस्वीरें खड़ी कर दी हैं—सिसिफस और हनुमान। मैंने उस कविता में अपनी पीढ़ी और आज की पीढ़ी की कहीं भी तुलना नहीं की। आपका ध्यान उस ओर जाता है तो उसे रोक भी कैसे सकता हूँ। ये प्रतीक जिन कारणों से और जिन परिस्थितियों से मेरे मन में उदय हुए, उनकी ओर मैं इस कविता की भूमिका में संकेत कर चुका हूँ। किसी प्रकार का स्पष्टीकरण प्रतीक को सीमित करता है। मैं अपने सिसिफस और हनुमान का प्रयोग किसी को गिराने अथवा किसी को उठाने के लिए नहीं करना चाहूँगा। उस विषय में आप अपनी ही कल्पना से काम लें।"

बच्चनजी से काव्य चर्चा का, विशेषकर उनकी अपनी कृतियों पर, एक अपना ही आनन्द है जो आत्म विभोर कर देता है। चर्चा के दौरान मुझे अनेक बार लगा कि वे वर्तमान से कट कर अतीत में पहुँच गए हैं और उसे फिर से जी रहे हैं—उनके चेहरे पर अवसाद की गहरी रेखाएँ उभर आई हैं और अवसाद से उबरने के दृढ़ निश्चय में उनकी मुट्ठियाँ भिंच गई हैं। इसी प्रकार, भावों की हिलोरों पर उठते गिरते तीन घंटे बीत गए। चर्चा को समेटते हुए मैंने एक प्रश्न और कर दिया—उनके जीवन में अभी-अभी आए एक नये मोड़ के बारे में. "यह पूछना तो मैं भूल ही गया कि राष्ट्रपति द्वारा डा० 'बच्चन' के राज्य-सभा के सदस्य नामित किए जाने पर कवि बच्चन की क्या प्रतिक्रिया हुई थी।" प्रश्न सुनकर बच्चनजी खिलखिला कर हँस पड़े और बोले, "मैं नहीं समझता कि राष्ट्रपति द्वारा राज्यसभा के लिए नामित किए जाने से मैं राजनीतिज्ञ बन गया हूँ। मैं

रहूँगा कवि ही—जिसका निर्माण मैंने पिछले साठ वर्षों में किया है। वही मेरा स्वधर्म है, उसे मैं कैसे छोड़ सकता हूँ ? 'मोमिन' के शब्दों में—

उम्र सारी तो कटी इश्के बुतां में 'मोमिन',
आखिरी वक्त में क्या खाक मुसलमां होंगे।

२-११-१९६६]

o

श्री रामधारीसिंह 'दिनकर'

'उर्वशी' का मूल स्वर

दिनकरजी हिन्दी के प्राणवान कवि हैं। हिन्दी-कविता को छायावादी कल्पना के आकाश से यथार्थ की कठोर धरती पर उतार लाने वाले कवियों में उनका शीर्ष स्थान है। दिनकरजी के व्यक्तित्व के समान उनका कृतित्व भी अनेक परस्पर-विरोधी धाराओं का संगम है। व्यष्टि और समष्टि, निवृत्ति और प्रवृत्ति, काम और अध्यात्म का द्वन्द्व उनके काव्य में निरंतर चलता आता है। उसकी एक परिणति 'कुरुक्षेत्र' है तो दूसरी 'उर्वशी'। 'उर्वशी' के द्वन्द्व का केन्द्र-बिन्दु है नर नारी-सम्बन्ध और उसका मूल स्वर है इन्द्रियों के माध्यम से अतीन्द्रिय धरातल का स्पर्श।

'उर्वशी' दिनकरजी की ही नहीं, स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कविता की भी सर्वाधिक चर्चित काव्य-कृति है और सर्वाधिक विवादास्पद भी। उसके पक्ष विपक्ष में इतना अधिक कहा और लिखा जा चुका है कि विविध आलोचनाओं प्रत्यालोचनाओं के घटाटोप में उसका मूल मन्तव्य ही खो गया है। 'उर्वशी' की आत्मा को पाने की चेष्टा में उसे जितनी बार पढ़ा, उतनी ही नई जिज्ञासाएं जगीं। कृति की उत्कृष्टता का महसूस करते हुए भी उसे पूरी तरह पा लेना दुष्कर लगा और हर बार चाहा कि दिनकरजी से उनका समाधान मिल पाए तो श्रेयस्कर रहे। भेंट-वार्ता की इच्छा व्यक्त की तो तुरंत स्वीकृति मिल गई। पर उसे क्रियान्वित करने में पूरा वर्ष लग गया।

दिनकरजी की मूल काव्य भूमि की तलाश में मैंने उनके सम्मुख अपनी पहली जिज्ञासा रखी, "उर्वशी की रचना करते समय क्या आपको कभी ऐसा भी लगा कि बाहर और भीतर की यथार्थताओं के पहले से लगाए गए अर्थ फीके पड़ने लगे हैं, उनके स्थान पर नये और आत्म विस्मृतकारी अर्थ उभर रहे हैं और आपको सत्य के निकट से निकटतर पहुंचने का आभास मिल रहा है? यदि 'हाँ' तो कृपया बताएं उसके किस स्थल में आपको इस प्रकार की अनुभूति सर्वाधिक हुई।"

प्रश्न को तौलते हुए से दिनकरजी बोले, "प्रश्न ठीक से मेरी समझ में आया है या नहीं, नहीं कह सकता। जो कुछ समझ सका हूं उसका उत्तर यह है कि मुझे वास्तविकता का जो रूप दिखाई पड़ा था, उसे हूबहू अभिव्यक्त कर सका हूँ या

नहीं, यह सहृदय ही बता सकते हैं। मेरी परिचित भूमि साधारणतः सामाजिक चेतना रही थी। उर्वशी में ऐसी चेतना भी है जो वैयक्तिक है, रहस्यात्मक है, मनोवैज्ञानिक है। उर्वशी-रचना के क्रम में इस प्रकार की अनुभूतियों को अभिव्यक्ति करने में मुझे भाषा की अधूरी शक्तियों का भान हुआ था। केवल नारी के ही भीतर एक अन्य नारी नहीं है, पुरुष के भीतर भी एक अन्य पुरुष है जिसे चित्रित करना सहज नहीं है :

> प्रणय-शृंग की निश्चेतनता में अधीर बाँहों के
> आलिंगन में देह नहीं, श्लथ यही विभा बँधती है।
> और चूमते हम अचेत हो जब असंज्ञ अधरों को
> वह चुम्बन अदृश्य के चरणों पर भी चढ़ जाता है।

इन पंक्तियों में त्रिया और पुरुष के उसी अतीन्द्रिय रूप के चित्रण का प्रयास किया गया है जिसका संकेत मैंने पहले किया है। किन्तु, चित्रण पूरा हुआ या नहीं, यह तो पाठक ही बता सकते हैं। इसी प्रकार उर्वशी के तृतीय अंक में जहाँ भूत, भविष्यत् और वर्तमान की सतत विद्यमानता का वर्णन है, वह कुछ दुरूह रह गया है, यद्यपि मैंने जितना कहने की कोशिश की है उससे अधिक कहना अशक्य था :

> रुको, पान करने दो शीतलता शतपत्र कमल की,
> एक सघन क्षण में समेटने दो विस्तार समय का
> एक पुष्प में भर त्रिकाल की सुरभि सूँघ लेने दो।

'उर्वशी' में काम और अध्यात्म के बीच छिड़े द्वन्द्व के समन्वयोन्मुखी होने की बात उठाते हुए मैंने कहा, "प्रेमहीन तन-दान वेश्यावृत्ति है तो तनहीन प्रेम भी विकृति (पर्वर्जन) से कम नहीं। इन दोनों अतियों का सन्तुलित रूप है उर्वशी जिसका निर्भ्रान्ति देहदान इस काव्य की आत्मा है। लगता है, इसे समाज की वक्र दृष्टि से बचाने के लिए आपके अवचेतन ने इस पर पुरूरवा के कामाध्यात्म का मुलम्मा चढ़ा दिया है। 'उर्वशी' की भूमिका के इन शब्दों से भी यही ध्वनित होता है—'युक्ति तो यही कहती है कि नकाब पहलकर असली चेहरे को छिपा लेने से पुण्य नहीं बढ़ता होगा। फिर भी हर आदमी नकाब लगाता है, क्योंकि नकाब पहने बिना घर से निकलने की समाज की ओर से मनाही है।' इस काव्य का नाम 'उर्वशी' भी इसी बात की गवाही देता है कि पुरूरवा का कामाध्यात्म इस कृति का मूल स्वर नहीं। उर्वशी इस कामाध्यात्म से सायुज्य स्थापित नहीं कर पाती, 'पढ़ो रक्त की भाषा को, विश्वास करो इस लिपि का, यह भाषा, यह लिपि मानस को कभी न भरमाएगी।' कृपया बताएँ, कामाध्यात्म का यह आदर्श उर्वशी की रचना में कहीं 'आफ्टर थॉट' तो नहीं।"

दिनकरजी बोले : "पुरूरवा मर्त्य मनुष्य है, वह अभिनव मनुष्य का भी प्रतीक है। उसने अपने पुरुषार्थ से सब कुछ प्राप्त किया है और वह इतना भाग्यशाली है

कि उस पर एक देवी आसक्त है। किन्तु ये सभी गुण उसे सन्तोष नहीं दे सकते, वह इन सुखों से आगे बढ़ कर किसी और अतीन्द्रिय आनन्द की कामना करता है। पुरूरवा के भीतर हम नये और पुराने मनुष्य का द्वन्द्व भी देख सकते हैं। नये मनुष्य का एक लक्षण सौभाग्य है। सौभाग्य यानी, पद, प्रभुता, धन, मकान और इन्द्रिय-तर्पण। पुराना मनुष्य इन सबके परे अपना वैयक्तिक मोक्ष खोजता है। ययाति अपने यहाँ बहुत बड़े राजा हुए हैं। वे जब बूढ़े होने लगे तब अपने एक बेटे से उन्होंने उसकी जवानी उधार माँग ली। इस प्रकार दो जवानियों का सुख भोग लेने के बाद ययाति ने एक सूक्ति कही, 'संसार में जितना अन्न है, जितना धन है, जितनी नारियाँ हैं, वे एक व्यक्ति के लिए यथेष्ट नहीं हैं, अतएव, मनुष्य को चाहिए कि वह वासनाओं का शमन करे।' पुरूरवा नया मनुष्य इसलिए है कि उसने पुरुषार्थ से सब कुछ प्राप्त कर लिया है। किन्तु, वह पुराना भी है क्योंकि मूल्यों के ह्रास में उसका विश्वास नहीं है। अथवा पुरूरवा उस नये मनुष्य का प्रतीक है जो सांसारिकता में सफल होने पर भी विषण्ण है, क्योंकि वह कोई ऐसी उपलब्धि खोजता है, जिसे प्राप्त करके उसे कुछ और प्राप्त करने की इच्छा न रह जाए।

"मूल्य ह्रास की घोषणा मनुष्यता को सुख देने वाली घोषणा नहीं है। नीत्से ने ऐलान किया था कि ईश्वर की मृत्यु हो गई। किन्तु, शीघ्र ही उसे यह चिन्ता सताने लगी कि ईश्वर की मृत्यु उन मूल्यों की मृत्यु है जो मनुष्य और ईश्वर के बीच फैले हुए हैं। अतएव, उसने दूसरी सूक्ति यह कही कि ईश्वर की मृत्यु इतनी बड़ी घटना है कि इसका मुकाबिला आदमी तभी कर सकता है जब वह खुद ईश्वर बन जाए। पुरूरवा मूल्य ह्रास का प्रतीक नहीं है। वह उन मानवों का प्रतीक है जो मूल्य की अवहेलना करके सफलता प्राप्त करते हैं और फिर भीतर ही भीतर मूल्य की महिमा पर रीझ कर तड़पने रहते हैं। *कामाध्यात्म* बड़ा गोलमटोल शब्द है। यदि इसका अर्थ काम और अध्यात्म के बीच द्वन्द्व हो तो उसका प्रयोग सही माना जाएगा, अन्यथा इस शब्द का प्रयोग उर्वशी काव्य के प्रसंग में नहीं किया जाना चाहिए।

'पुरूरवा की कल्पना मैंने उस लौकिक मनुष्य के रूप में की है जो लोक के साथ-साथ परलोक की भी कामना करता है। उर्वशी की कल्पना उस देवी के रूप में है जिसे स्वर्ग से सन्तोष नहीं है। जैसे पृथ्वी अपूर्ण है, वैसे ही स्वर्ग को भी मैं अपूर्ण मानता हूँ। पुरूरवा वह वस्तु खोजता है जो उसे मिट्टी में नहीं मिल पाती। उर्वशी स्वर्ग से इसलिए विरक्त है कि पृथ्वी पर कुछ ऐसे सुख हैं जो स्वर्ग में नहीं हैं। वह उन्हीं सुखों के लोभ में धरती पर आई है और वह नहीं चाहती कि पुरूरवा स्वर्ग का बहुत अधिक ध्यान करता रहे।

"मैं नहीं जानता कि जिस प्रेम में दैहिक मिलन नहीं होता वह विकृत प्रेम

[पर्वर्जन] है। उर्वशी केवल यह कहना चाहती है कि दैहिक मिलन केवल स्थूल कर्म नहीं है, उसके भीतर से भी मन सूक्ष्म उड़ाने मारता है। प्रेम शरीर में जन्म लेता है, लेकिन उसकी ऊर्ध्वगति मन: आकाश की ओर भी होती है। नर-नारी-संबंध के स्तर अनेक हैं। यह मनुष्य की वैयक्तिक योग्यता पर निर्भर करता है कि उसे किस स्तर का संबंध संतोष देता है।"

आधुनिक नारी पत्नीत्व और मातृत्व से बचकर जिस अनियन्त्रित और स्वच्छन्द जीवन की ओर प्रवृत्त हो रही है उसकी अवचेतन प्रतिक्रिया का भी 'उर्वशी' की रचना में हाथ रहा है, यह सोचते हुए मैंने कहा, "उर्वशी में आधुनिका का प्रतीक बनी हैं अप्सराएँ, जिनकी सब मर्यादाओं को तोड़कर उर्वशी 'चपलोष्ण मानवी-सी भू पर जीने' आती है और पत्नीत्व तथा मातृत्व दोनों का भार वहन करती है। शायद इसीलिए, आपकी दृष्टि में वह सिद्ध नारी है। पर स्वयं उर्वशी के लिए नारी के ये दोनों रूप साधन हैं, साध्य नहीं पत्नीत्व से उसे दैहिक मिलन की सामाजिक स्वीकृति मिली और मातृत्व हुआ उसका अनिवार्य परिणाम। उसकी मूल प्रवृत्ति तो देहदान और देहलाभ की ही रही। इसीलिए तो पुरुरवा द्वारा अध्यात्म की चर्चा छेड़े जाने पर वह स्पष्ट कह देती है : 'पर, मैं बाधक नहीं, जहाँ भी रहो, भूमि या नभ में, वक्षस्थल पर, इसी भाँति मेरा कपोल रहने दो'। यही नहीं, पुत्रोत्पत्ति के बाद भी वह मातृत्व की पूर्ण उपेक्षा करके पुत्र को सोलह वर्ष तक महर्षि च्यवन के आश्रम में छोड़, स्वयं पति के साथ दैहिक-सुख में लीन रहती है। वह स्वयं भी तथ्य को स्वीकार करती है कि मात्र भ्रूणवहन मातृत्व नहीं है। फिर भी, आश्चर्य की बात है, आपने उर्वशी के चरित्र को गौरवान्वित किया?"

प्रश्न की गहरी खुदाई करते हुए दिनकरजी बोले, "गौरवान्वित न तो मैंने उर्वशी को किया है, न पुरुरवा को। गौरव की अधिकारिणी तो सुकन्या और औशीनरी ही हैं। यह सत्य है कि उर्वशी की रचना करते समय मेरा ध्यान बार-बार इस ओर गया था कि आधुनिकाओं में अधिक ऐसी ही हैं जो अपने लक्ष्मी-रूप की अपेक्षा अप्सरा-रूप का ध्यान रखती हैं। नारी के लक्ष्मी और अप्सरा, दोनों रूप पुरातन काल से चले आ रहे हैं। प्राचीनों को यह ज्ञात था कि नारी जब अपने अप्सरा-रूप को प्रमुखता देती है, तब वह मातृत्व का बोझ संभालना नहीं चाहती। पुराणों में ऐसी अनेक कहानियाँ भरी पड़ी हैं।

"व्यास और घृताची के मिलन से शुकदेवजी का जन्म हुआ, किन्तु सन्तान का पालन व्यासजी ने किया। राजा उपरिचर और अप्सरा अद्रिका के संयोग से मत्स्य और मत्स्यगंधा का जन्म हुआ। लड़के को तो उपरिचर ले गए, मत्स्यगंधा का पालन धीवरराज ने किया। गंगा ने अपने सात पुत्र मार डाले। आठवें पुत्र को बचाने का जब शान्तनु ने आग्रह किया तब गंगा पति को छोड़कर चली गई।

अप्सरा और देवी के स्वभाव में समानता होती है।

"विश्वावसु मुनि ने मेनका से समागम किया। मेनका गर्भ लेकर चली गई। पीछे प्रसवकाल में स्थूलकेश मुनि के आश्रम पर आकर उसने एक कन्या को जन्म दिया। यही कन्या प्रमद्वरा हुई जिसका विवाह रुरु के साथ हुआ। मेनका ने शकुन्तला का पालन नहीं किया। यह कालिदास की मानवसुलभ करुणा थी जिसने यह दिखलाया है कि पति से त्याग जाने पर शकुन्तला जब घोर विपत्ति में पड़ी तब मेनका पृथ्वी पर आई और अपनी बेटी को उठा ले गई।

'ब्रह्मा की कृपा से राजा आग्नीध्र को पूर्वचित्ति नामक अप्सरा प्राप्त हुई थी जिससे उन्हें नौ पुत्र हुए। किन्तु अप्सरा रुकी नहीं। वह फिर ब्रह्मा के पास वापस चली गई। कण्डु मुनि को इन्द्र की कृपा से प्रम्लोचा नामक अप्सरा प्राप्त हुई थी। जब उसे गर्भ रहा, वह अपना गर्भ वृक्षों को सौंपकर भाग गई।

"केवल भ्रूण-वहन मातृत्व नहीं है, उर्वशी के द्वारा यह कहलाने में मेरा तात्पर्य यह है कि जो नारियाँ सन्तान नहीं चाहती, उन्हें भी सन्तान होने पर सन्तान का मोह घेरता है और वे भी उस सुख के लिए ललचाती हैं जो सन्तान का पालन करने से प्राप्त होता है। यह शायद जीव-विज्ञान के नियम से भी ठीक है। तब भी अप्सराएँ प्रकृति के इस वरदान को भ्रम फेंक देती हैं।'

'उर्वशी की भूमिका के इन शब्दों ने, प्रकारान्तर से ही सही, उत्कृष्ट काव्य की कसौटी प्रस्तुत कर दी है—'प्रश्नों के उत्तर, रोगों के समाधान, मनुष्यों के नेता दिया करते हैं। कविता की भूमि केवल दर्द को जानती है, केवल बेचैनी को जानती है, केवल वासना की लहर और रुधिर के उत्ताप को पहचानती है।' इन पंक्तियों की ओर संकेत करते हुए मैंने कहा, ''उर्वशी' का तृतीय अंक इस कसौटी पर खरा उतरता है। इस काव्य के कटु से कटु आलोचक ने भी इसकी श्रेष्ठता को स्वीकारा है। पर अनेक पाठकों को लगा है कि तृतीय अंक में पहले जिन समस्याओं को उठाया गया है और बाद के अंकों में सीधे अथवा सांकेतिक ढंग से जो दार्शनिक समाधान प्रस्तुत किए गए हैं वे उन स्थलों को उत्कृष्ट काव्य के आसन से उतार कर प्रश्नोत्तरिता के स्तर पर ले आते हैं, उनमें तृतीय अंक का दर्द और बेचैनी नहीं मिलती। ऐसे पाठकों से आप कहाँ तक सहमत होंगे ?"

इस यथार्थता को स्वीकार करते हुए दिनकरजी बोले, "काव्य का कोई-कोई अंश अन्य अंशों से ऊपर उठ जाता है। यह दोष या गुण या मात्र लक्षण केवल उर्वशी में ही नहीं, संसार के अन्य काव्यों में भी देखा जा सकता है। जिन पाठकों को तृतीय अंक का दर्द और बेचैनी, उर्वशी के अन्य अंकों में नहीं मिलती, उनका समाधान मैं क्या कह कर कर सकता हूँ ? वे ठीक ही सोचते होंगे।

"भूमिका से आपने जो उद्धरण दिया है, उसका संकेत इस बात की ओर है कि कवि से हमेशा सन्देशों की अपेक्षा नहीं रखनी चाहिए। कवि सन्देशवाही हुआ

करते थे, यह सत्य है। किन्तु, संदेश-वहन अब सोद्देश्यता में शामिल समझा जाता है। फिर भी मैं यह दावा नहीं कर सकता कि उर्वशी संदेशविहीन काव्य है। किन्तु पुरूरवा और उर्वशी के चरित से संदेश का ग्रहण केवल गुणीभूत व्यंग्य के ही रूप में किया जा सकता है। जो लोग उर्वशी काव्य का पारायण यह सोचकर करते हैं कि पुरूरवा आदर्श पुरुष और उर्वशी आदर्श नारी है, उन्हें उनकी जिज्ञासा का समाधान इस काव्य में नहीं मिलेगा। उर्वशी में ऐसी बहुत सी बातें हैं जो आदर्श नारी में नहीं होनी चाहिए। पुरूरवा में भी ऐसे कुछ लक्षण हैं जो आदर्श पुरुष के लक्षण नहीं माने जा सकते। असल में आदर्श नर और आदर्श नारी का चित्रण मेरा ध्येय नहीं था। मैं तो केवल पुरूरवा और उर्वशी का चित्रण करना चाहता था जिनके दर्शन मुझे नये मनीषियों और नई नारियों में मिलते ही रहते हैं।"

'उर्वशी' में नाटक की तरह अंक हैं। नटी और सूत्रधार भी है। सारी कथा संवादात्मक है और यत्र-तत्र मंच-संकेत भी दिए गए हैं। फिर भी ऐसा नहीं लगता कि उसकी संकल्पना में रंगमंचीय तत्त्व पर विशेष ध्यान रहा है। इस तथ्य की ओर दिनकरजी का ध्यान आकृष्ट करते हुए मैंने कहा, "उर्वशी मूलतः प्रबन्ध काव्य ही है। इसमें नाटकीय शिल्प को अपना कर, लगता है, आपने अपने लिए कुछ सीमाओं का निर्माण भी कर लिया है। फलतः जो विवेचन-विश्लेषण स्वयं कवि के शब्दों में अधिक प्रभावपूर्ण और समीचीन होता, उसे भी आपको पात्रों के माध्यम से ही करवाना पड़ा है। कृपया बताएँ, 'उर्वशी' को नाटक का रूप देने में आपका क्या उद्देश्य रहा है।"

'उर्वशी' के नाट्यरूप का रहस्योद्घाटन करते हुए दिनकरजी ने कहा, "उर्वशी काव्य का श्रीगणेश रेडियो-रूपक के रूप में किया गया था। लेकिन, एक अंक लिखने के बाद मुझे ऐसी संभावनाएँ दिखाई पड़ी जो रेडियो-रूपक में सम्भाली नहीं जा सकती थीं। इसलिए मैंने उर्वशी को सवाद-काव्य बना दिया। शायद आपका यह सोचना ठीक हो कि अंकबद्ध होने के बदले काव्य यदि सर्गबद्ध हुआ होता तो मुझे स्वतंत्रता अधिक रहती।"

१३-१-१९६८]

o

श्री उपेन्द्रनाथ 'अश्क'

जिंदगी की किताब में लगे प्रश्न-चिन्ह

प्रेमचन्द के बाद कुछ कथाकार तो सेक्स को मानव-जीवन का मूलाधार मानकर तज्जनित कुंठाओं की खोज में व्यक्ति मानस की अतल गहराइयाँ नापने लगे और कुछ समाजवादी दर्शन के सहारे उसकी प्रत्येक समस्या का निदान आर्थिक विषमताओं में ढूँढने लगे। पर उपेन्द्रनाथ 'अश्क' ने अपनी रचनाओं में सेक्स और अर्थ दोनों का ताना बाना बुनकर निम्नमध्यवर्ग के युवक की प्रकृति विकृति का चित्र प्रस्तुत करते हुए इस तथ्य को उभारा कि इन दो पाटों के बीच पिसते हुए किस प्रकार उसका स्वाभाविक विकास अवरुद्ध हो नाना विकृतियों को प्राप्त होता है। समाज की जर्जर परम्पराओं की दीवारें गिरने के साथ उसे अपनी बेबसी का एहसास इतनी तीव्रता से होने लगा कि जीना उसके लिए दूभर हो उठा। निम्न-मध्य वर्ग के युवक की यह चेतना ही उसके लिए अभिशाप बन गई। 'गिरती दीवारें' का चेतन, 'गर्म राख' का जगमोहन और 'बड़ी-बड़ी आँखें' का संगीत सब इसी बेबसी के शिकार हैं।

अश्कजी के उपन्यास पढ़ते समय उनकी विश्लेषण प्रतिभा ने तो प्रभावित किया ही, मन में कई जिज्ञासाएँ भी उठीं। सोचा कभी अवसर मिला तो उन्हें अश्क के सामने रखूँगा। पिछले दिनों सुयोग भी मिल गया। मैंने उन्हें अपनी जिज्ञासाएँ लिख भेजीं और जब वे दिल्ली आए तो उनसे चर्चा हुई। चर्चा का आरम्भ मैंने उनकी रचना प्रक्रिया से ही किया, "रचना प्रक्रिया के दौरान क्या आपको कभी ऐसा भी लगा है कि बाहर और भीतर की यथार्थताओं के पहले लगाए गए अर्थ फीके पड़ने लगे हैं। उनके स्थान पर नये आत्मविस्मृतकारी अर्थ उभर रहे हैं और आपको सत्य के निकट से निकटतर पहुँचने का आभास मिल रहा है। यदि हाँ तो कृपया बताएँ अपने किस उपन्यास में आपको इस प्रकार की अनुभूति सर्वाधिक हुई है?"

प्रश्न की तह तक पहुँचने की चेष्टा में अश्कजी बोले, 'यदि मैं इस प्रश्न को ठीक से समझ पाया हूँ तो कहूँगा कि हाँ कभी कभी ऐसा होता है कि रचना प्रक्रिया के दौरान किसी वस्तुस्थिति की अथवा किसी व्यक्ति के अन्तर्मन की पूर्व निर्धारित यथार्थता के भीतर एक और गहरी यथार्थता दिखाई देती है। और इसी-

लिए उसका संकेत कई बार अनचाहे भी हो जाता है। मन नहीं चाहता कि यह संकेत किया जाय, लेकिन यथार्थता का वह नया और गहरा पहलू लेखक से अभिव्यक्ति का तगादा करता है। यदि लेखक सच्चा है और अपने पात्र के किसी विशेष रूप ही को दिखाने के प्रति प्रतिबद्ध नहीं, तो वह यथार्थता के उस आवाहन को स्वीकार कर लेता है। 'गिरती दिवारें' में मुझे दो ऐसे स्थल याद आते है जब मैं अपनी पूर्व निश्चित यथार्थता से किंचित हटने को विवश हुआ :

"उपन्यास के शिमला प्रकरण में मुझे कविराज रामदास के छलिया, कपटी, व्यावहारिक और शोषक रूप का उद्‌घाटन करना था, क्योंकि मैंने वह रूप देखा था और मेरे मन में उसके प्रति भयानक आक्रोश था। इसलिए कविराज चेतन को (प्रकट ही उसे प्रसन्न करने के लिए) 'चैडविक प्रपात' दिखाने ले जाते है तो वे उस स्थिति में भी उससे लाभ उठाना नहीं भूलते। बातों-बातों में वे उससे एक विज्ञापन बनवा लेते हैं। चेतन उनकी धूर्त्तता समझ भी जाता है और मन ही मन उनको गालियाँ भी देता है, लेकिन जब दोनों प्रपात के नीचे जाकर बैठ जाते हैं और कविराज उमँग में आकर गा उठते हैं तो चेतन चकित, मुग्ध उनका गाना सुनता रह जाता है।......

"आरम्भिक रूपरेखा के अनुसार कविराज का गाना यहाँ नहीं होना चाहिए था अथवा यों होना चाहिए था कि वे एकाध पंक्ति गाते हैं और फिर उनका व्यावहारिक और दिखावटी व्यक्तित्व अपने अन्तर की उमँग पर अधिकार पा लेता है और वे चेतन को खिला-पिला कर और 'चैडविक प्रपात' दिखाकर सन्तुष्ट और प्रसन्न वापिस ले जाते है। लेकिन यहीं वस्तु की एक और गहरी यथार्थता ने मेरा हाथ रोक लिया और मैंने लिखा :

'कविराज गा रहे थे और चेतन सोचता था—यह व्यक्ति जिसे वह केवल एक चतुर व्यापारी, एक हृदयहीन शोषक समझता था, अपने वक्ष में हृदय भी रखता है; कितना दर्द है इस कंठ में, कितना सुन्दर है यह गीत, कैसी मनुहार है इसमें......

'सुनते-सुनते नई श्रद्धा से उसका मन प्लावित हो उठा, वह भूल गया कि कविराज शोषक हैं, व्यापारी है, दुनियादार हैं। उसके सामने रह गया केवल उनका कलाकार जो अनायास अपने आवरण को हटाकर गा उठा था, रह गया मानव जो अस्वाभाविक बन्धनों से मुक्त होने को तड़फड़ा उठा था.........'

"प्रकट ही इन पंक्तियों ने पात्र के चरित्र के एक ऐसे कोण पर प्रकाश डाला जो मुझे दिखाना अभीष्ट नहीं था, पर जब प्रकट यथार्थता के अन्दर वह रूप दीख गया तो उसे व्यक्त न करना गलत लगा, भले ही उससे पात्र के चरित्र को एक ऐसा आयाम मिल गया जो उसे देना मुझे अभीष्ट नहीं था। लेकिन ऐसा बेजरूरत हुआ ऐसी बात नहीं।

"पहली बात तो यह है कि कविराज जैसा दुनियादार व्यक्ति चेतन के चेहरे को देख कर ज़रूर जान गया होगा कि जिस मतलब के लिए वह उसे इतनी दूर लाया है वह पूरा नहीं हुआ। वह चेतन का तनाव दूर करना चाहता था। लेकिन वह इतने से दूर न हुआ था। तब हो सकता है उसने चेतन अथवा अचेतन रूप से यह ढंग सोचा हो कि वह उसके और निकट हो जाए और मालिक नौकर का उसका एहसास मिट जाए।

"दूसरा यह कि सचमुच उसके अन्दर छिपा कलाकार उस निर्जन में गा उठा।

"उस घटना की कोई भी व्याख्या की जाए 'गिरती दिवारें' का वह स्थल और कविराज का उन्मुक्त गायन एक ऐसी यथार्थता की ओर संकेत करता है जो प्रकट दिखाई न देती थी अथवा यों कहा जाए कि मेरी प्रारम्भिक रूपरेखा में नहीं थी।

'दूसरा स्थल 'गिरती दिवारें' के अन्तिम परिच्छेद में है चेतन नीला की शादी की याद करता है। वहाँ उसने उसे गठरी सी बनी दालान के कोने में बैठे देखा था। सहानुभूति का एक अथाह सागर उसके लिए चेतन के मन में ठाठें मार उठा था। लेकिन नीला ने उसकी ओर आँख उठाकर भी न देखा था। वह बैठी रही थी और पाँव के अँगूठे से धरती पर बेनाम सी शक्लें बनाती रही थी। तभी बाहर से पचीस-बरस मदन-सा सुन्दर—नीला के जेठ का लड़का—त्रिलोक चौखट में जा खड़ा हुआ था। और उसने कहा था—'चाची जी नमस्ते।'

"तब नीला ने आँखें उठाकर देखा था और चेतन को लगा था, जैसे क्षण भर के लिए नीला की दृष्टि त्रिलोक के मुख पर रुकी थी। उसका पीला-सा मुख लाल हो उठा था और उस अँधेरे में उसकी आँखों में एक अज्ञात-सी चमक कौंध गई थी।

"नीला की शादी की याद करते हुए चेतन जब इस स्थल पर पहुँचा तो अचानक मेरे कलम ने मुझसे कुछ ऐसी पंक्तियाँ लिखा दीं जो मैं लिखना नहीं चाहता था। क्योंकि जैसे उपरिलिखित 'वैज्ञानिक प्रयाण' के प्रकरण की पंक्तियाँ कविराज के चरित्र के अच्छे पक्ष की ओर संकेत करती थीं जिसे दिखाना मेरी पूर्व निश्चित योजना में नहीं था, उसी तरह ये पंक्तियाँ चेतन के चरित्र के ऐसे पहलू की ओर संकेत करती थीं जो अच्छा नहीं था—और प्रमुख पात्र से अनायास हो जानेवाला मोह मुझे उन्हें लिखने से वर्जित करता था। लेकिन उस स्थल पर पहुँच कर जब यथार्थता की उस गहराई पर दृष्टि गई तो उसे न लिखना असम्भव हो गया और मैंने निम्नलिखित पंक्तियाँ लिखीं

' त्रिलोक के प्रति नीला की आँखों में जो चमक पैदा हुई थी, उसने चेतन के मन में अज्ञात रूप से कहीं एक छोटा-सा ईर्ष्या का अंकुर उत्पन्न कर दिया था

और रात होते-होते वह अँकुर एक पेड़ का आकार धारण कर गया।'

"और इन पंक्तियों के बाद मैंने पूरा का पूरा प्रकरण उसकी ईर्ष्या के बारे में जोड़ दिया और उसके बाद ये पंक्तियाँ लिखी :

'नीला का पति कुरूप था और चेतन के मन में यह सत्य अज्ञात रूप से छिपा हुआ था कि नीला अपने तन को भले ही अपने पति के चरणों पर रख दे, उसका मन कभी भी उसको नहीं मिलेगा। वह मन उसके जीजाजी का ही रहेगा। चेतन को इस बात का विश्वास था।...और यह त्रिलोक...उसने उसके इस विश्वास को डिगा दिया था और नीला के तन और मन दोनों से वंचित हो जाना कदाचित् चेतन को प्रिय नहीं था।'

"आज से पन्द्रह-सोलह वर्ष पहले श्री गंगाप्रसाद पाण्डेय ने अपनी पुस्तक 'हिन्दी-कथा-साहित्य' में 'गिरती दीवारें' पर लिखते हुए इस प्रकरण का विशेष उल्लेख कर इसकी आलोचना की थी और लिखा था :

'चेतन के मन की यह स्थिति जीवन के लिए सर्वथा अवांछनीय है—फिर भी चेतन को अश्क जैसे कुशल कलाकार की ममता प्राप्त है, जिसके कारण उसका जीवन-विकास घृणा का उतना नहीं जितना करुणा का पात्र है। समाज के प्रति ऐसी कटुता, ऐसी ज्वाला व्यापकता पाकर कई बार सामाजिक क्रान्ति का कारण होती है। चेतन का जीवन कोई असामान्य जीवन न होकर एक बहुपीड़ित [illegible] का ही है। काश कि वह अपनी वासना पर अपनी सांस्कृतिक रुचि से, इच्छा[illegible] से विजय पा लेता।'

"मैंने पाण्डेयजी के उपर्युक्त वक्तव्य पर कभी अपनी राय [illegible] अब चूँकि इस प्रकरण का जिक्र है इसलिए मैं कहना चाहता हूँ कि [illegible] लेखक यदि आदर्शवादी अथवा समाजशास्त्री प्रगतिवादी [illegible] कहीं गहरे में डूबी उस सच्चाई को यों निकाल कर न [illegible] जिसकी ओर पाण्डेयजी ने संकेत किया है। लेकिन [illegible] आदर्शवाद के विरोध ही में कलम उठाई है, क्योंकि [illegible] और शिव नहीं लगा। मेरा यह निश्चित मत है कि [illegible] कर हम जो आदर्श बनाते है, वही टिकाऊ [illegible] झटका भी सहन नहीं कर पाते।

"साधारण हिन्दी-आलोचक की [illegible] उसकी आलोचना भी गहराई में [illegible] विरोधाभास है। जो चित्र [illegible] होकर सामाजिक क्रान्ति [illegible] सकती है कि वह सत्य पर [illegible] मालूम होता कि चेतन [illegible]

और भी गहरी ट्रैजिडी की ओर संकेत करता है। पर हिन्दी के सामान्य आलोचक किसी रचना के बारे में क्या लिखा है, स्वयं कभी उसका विश्लेषण नहीं करते। इसी कारण उनकी आलोचना महत्त्व और प्रभाव खो बैठती है। और वे पाण्डेयजी की तरह कुण्ठित हो सन्यस्त हो जाते हैं।

"ऐसे प्रकरण मेरे दूसरे उपन्यासों में भी हैं पर चूंकि जिन यथार्थताओं का वहाँ उद्घाटन हुआ है, वे सूक्ष्म और गहरी हैं इसलिए सहसा उन पर निगाह नहीं जाती। 'गिरती दीवारें' के इन स्थलों में जैसे मैंने अपनी ओर से उन यथार्थताओं का संकेत किया है दूसरे उपन्यासों में ऐसा नहीं किया। इसलिए जब तक पाठक या आलोचक उन्हें ध्यान से न पढ़े, उनके लिए उन्हें जान पाना कठिन है।

मेरा अगला प्रश्न था, ' 'गिरती दीवारें' आत्म-कथा शैली में लिखा गया उपन्यास है, पर यह मानना कहाँ तक ठीक होगा कि उसके नायक के रूप में लेखक ने अपनी ही गहराइयों में उतरकर विवेचन विश्लेषण प्रस्तुत किया है? एक आलोचक ने तो यहाँ तक माना है कि 'अश्क के उपन्यासों के नायकों के रूप में उनका अपना व्यक्तित्व प्रतिबिम्बित हुआ है और नारी पात्रों के रूप में उनकी तीन पत्नियों तथा सम्पर्क में आनेवाली अन्य नारियों के चित्रण का आभास मिलता है।' (सुषमा धवन 'हिन्दी उपन्यास,' पृष्ठ ११६)।"

अश्कजी का उत्तर बड़ा तीखा था "अधिकांश हिन्दी आलोचकों की आलोचना और दृष्टि निहायत छिछली होती है। अधिकांश आलोचक अध्यापक होते हैं और चूंकि छात्र उन्हें प्रसन्न करने को उनके चरण छूते रहते हैं और उनकी गलत-सलत धारणाओं का समर्थन करते रहते हैं, इसलिए उन्हें अपनी सर्वज्ञता का पूरा विश्वास रहता है। वे यह नहीं समझ पाते कि आलोचक का काम लेखक से कहीं कठिन है और अच्छी तथा तथ्यपरक आलोचना न केवल उस विधा के वरन् जीवन के भी गहरे ज्ञान की अपेक्षा रखती है। वे प्रायः सरसरी नजर से रचनाएँ पढ़कर जो मन में आता है लिख देते हैं और अपने जाने लेखकों को बनाते-बिगाड़ते रहते हैं। हालाँकि न वे किसी लेखक को बना सकते हैं, न बिगाड़ सकते हैं। (यद्यपि मैं यह मानता हूँ कि एक सशक्त आलोचक में यह शक्ति होनी चाहिए कि वह लेखकों को बना बिगाड़ सके और सरफिरा से सरफिरा लेखक भी उसकी बात का नोटिस लेने को विवश हो। पर आलोचक को आलोच्य विधा और जिन्दगी का ज्ञान रखने के अलावा परम निष्पक्ष और दयानतदार भी होना होगा। और यही बात मुश्किल है।)

'मैंने सुषमा धवन की वह पुस्तक नहीं पढ़ी। यदि वह कोई शोध ग्रन्थ है तो आपने बेकार उसका नोटिस लिया। यदि कोई शोध-ग्रन्थों पर शोध करे तो ऐसे-ऐसे हाउलर्ज़ (भयानक गलतियाँ) सामने आएँ कि लोग दंग रह जाएँ। मैंने कुछ शोध-ग्रन्थ देखे हैं, तभी मैं यह कहता हूँ। यदि सुषमाजी ने किसी लेख में इस

सत्य का उद्‌घाटन किया है तो वह लेख मेरी नजर से नहीं गुजरा। बहरहाल, उनका यह रिमार्क काफी छिछला और असत्य है, क्योंकि ऐसे रिमार्क के लिए सुषमाजी को मेरे व्यक्तित्व और मेरे जीवन का पूरा ज्ञान होना जरूरी है और मैंने तो उनका नाम भी नहीं सुना। प्रकट है कि उन्होंने यह निष्कर्ष मेरे सम्बन्ध में कहीं सुनी-सुनाई बातों के बल पर निकाला होगा। और इसलिए यह रिमार्क गैर-जिम्मेदारी से भरा है।

"गिरती दीवारें' चाहे आत्मकथा शैली में लिखा गया हो, पर वह आत्मकथा नहीं है। यह उपन्यास है और इसीलिए उसमें लगातार कल्पना का समावेश है। जो लोग मुझे निकट से जानते हैं, वे समझ सकते है कि मैंने चेतन को अपनी अनुभूतियाँ तो दी हैं, अपना व्यक्तित्व नहीं दिया। और अनुभूतियाँ तो मैंने अन्य पात्रों को भी दी है। और बिना अनुभूतियों के यथार्थपरक उपन्यास लिखा ही कैसे जा सकता है ? यदि सुषमाजी ने ऐसा लिखा होता कि लेखक ने अपनी ही अनुभूतियाँ नायक को दी है तो गलत न होता। लेकिन अपना व्यक्तित्व तो कोई लेखक आत्मकथा तक में पूरा नहीं दे सकता।

"जहाँ तक मेरे सम्पर्क मे आई नारियों का सम्बन्ध है, जरूर ही उनका कुछ-न-कुछ कल्पना के मिश्रण से नया बनकर मेरे उपन्यासों के नारी पात्रों को मिला है, लेकिन जहाँ तक मेरी तीनों पत्नियों का सम्बन्ध है, दूसरी और तीसरी के बारे में मैंने अभी कहीं कुछ लिखा नहीं और 'गिरती दीवारें' जब लिखा गया था तो न मेरी दूसरी पत्नी थी, न तीसरी। अपनी पहली पत्नी की मृत्यु के पाँच वर्ष बाद मैंने दूसरी शादी की और तब तक मैं 'गिरती दीवारें' का (याने उस बृहद उपन्यास के पहले खण्ड का) अधिकांश लिख चुका था। हाँ, पहली पत्नी को जरूर मैंने 'गिरती दीवारें' में लिया है, पर वही तो शायद 'गिरती दीवारें' के पाँचों खण्डों की एक मात्र प्रेरणा है। यानी विस्तृत जिन्दगी के अलावा यदि उस प्रेरणा को किसी एक पात्र में संकेतिक किया जाय तो।"

अब मैंने अश्कजी के सामाजिक निदान पर प्रश्न किया, "अपने सभी उपन्यासों में आपने निम्न-मध्यवर्ग के युवक की सब समस्याओं का मूल अर्थ-काम की क्रिया-प्रतिक्रिया में खोजा है। पर क्या आप नहीं मानते कि निम्न-मध्यवर्ग समाज का सर्वाधिक संस्कारशील वर्ग है और उसके परम्परागत संस्कार उसके मन-प्राण को इस प्रकार जकड़ लेते हैं कि वह जो करना चाहता है नहीं कर पाता तथा जो नहीं करना चाहता वह उससे बरबस हो जाता है। चेतन और अचेतन प्रवृत्तियों के दो पाटों के बीच जितना अधिक यह वर्ग पिसता है, उतना कोई नहीं। निम्न और उच्चवर्ग ऐसी संस्कारिता से अपेक्षया मुक्त रहते हैं। इसलिए वे कुण्ठा और घुटन को अधिक नहीं पालते।"

मुझे उखाड़ते हुए अश्कजी ने कहा, "आपके प्रश्न के पहले वाक्य से मैं सहमत

नहीं हूँ। मेरे उपन्यासों में केवल काम की समस्याएँ नहीं हैं। काम अर्थ और अहं— मैं इन्हें ही जिन्दगी की परिचालक शक्तियाँ मानता हूँ। काम एक बहुत बड़ी शक्ति है, लेकिन अहं से बड़ी नहीं—चेतन, जगमोहन अथवा सगीतसिंह काम की क्रिया प्रतिक्रिया से ही परिचालित नहीं हैं। तीनों के साथ अहं की एक बहुत बड़ी समस्या है और ध्यान से उपन्यास को पढ़ने वाला इस तथ्य से निश्चय ही अवगत होगा। फिर आपके प्रश्न में शब्द 'सभी' पर मुझे आपत्ति है। मेरा उपन्यास 'पत्थर-अल-पत्थर' (बर्फ का दर्द) को कुछ लोग मेरा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण उपन्यास मानते हैं। रूसी, मराठी, असमी और अंग्रेजी में उसका अनुवाद भी हुआ है और उसमें कहीं काम की समस्या नहीं। आपके प्रश्न के दूसरे खण्ड से मैं सहमत हूँ।"

चर्चा को अश्कजी के उपन्यास 'बड़ी बड़ी आँखें' की ओर मोड़ते हुए मैंने पूछा, "आपके औपन्यासिक पात्र किसी भी व्यक्ति और परिस्थिति से पूरी तरह समझौता नहीं कर पाते और न ही उनमें इतना दम है कि डट कर किसी से टक्कर ले सकें। फलतः वे जीवनभर घुलते हैं और संघर्ष की आग में एक-एक करके उनके सब अरमान भस्म हो जाते हैं, पर उनकी व्यक्ति-चेतना अरमानों की राख को थाम किए रहती है। 'गिरती दीवारें' से लेकर 'गर्म राख' तक ऐसा ही हुआ है। 'बड़ी बड़ी आँखें' में भी व्यक्ति-चेतना की यह उष्णता नायक संगीत में प्राण फूंक सकती थी, पर आपने न जाने क्या नायक-नायिका के स्वस्थ्य प्रेम को विकसित ही नहीं होने दिया, जबकि संगीत इस तथ्य को जानता है कि हर प्रेम के तल में कहीं जरूर वासना की हल्की धारा होती है, लेकिन ऐसा प्रेम भी है जो गिराता नहीं उठाता है।"

समाधान में अश्कजी ने कहा "मेरे अधिकांश उपन्यासों के पात्र निम्न मध्य वर्ग के बौद्धिक युवक हैं और जैसा मैंने उन्हें देखा है वैसा ही चित्रित कर दिया। समझौता करके प्रसन्न होने वाले अबौद्धिक होते हैं, लेकिन जो सोचते समझते हैं, चिन्तन और मनन करते हैं घुटन, चिन्ता और जिन्दगी भर घुलना उनका भाग्य है, जब तक कि वे अपनी मनचाही राह नहीं पा लेते। यह बात ध्यान देने योग्य है कि मेरे उपन्यासों की अवधि उन नायकों के दो-एक वर्ष के जीवनकाल से ज्यादा नहीं—वे अभी युवा हैं, बदलने के क्रम में हैं, विद्रोही हैं और उनके बारे में कोई अन्तिम बात नहीं कही जा सकती। उपन्यास उनकी पूरी जिन्दगियों तथा उनकी समस्त सफलताओं और असफलताओं का ब्योरा देने के लिए नहीं लिखे गए। उनके माध्यम से जिन्दगी और उसकी यथार्थताओं को उजागर करने के लिए लिखे गए हैं, ताकि उनको पढ़ने वाले लोग यथार्थताओं को देखकर अपनी जिन्दगियों के आदर्श बनवाएँ। दूसरे शब्दों में यदि चेतन, जगमोहन या संगीत की जगह जिन्दगी से समझौता करनेवाले पात्र होते तो उनकी निगाहों में कहीं कोई समस्या दिखाई ही न देती। यथार्थता की कटुता को देखने के लिए नायक का भावप्रवण होना आव-

श्यक है। मोटी खाल वाले के लिए न कहीं कोई समस्या है, न रास्ते में कहीं कोई दीवार है—आपने अपने प्रश्न में यह वाक्य गलत कहा है—'फलतः वे जन्म भर घुलते हैं और संघर्ष की आग में एक-एक करके उनके अरमान भस्म हो जाते हैं।' मेरे किसी भी उपन्यास में किसी नायक की पूरी जिन्दगी का ब्योरा नहीं। उनके बचपन और लड़कपन का ब्योरा है अथवा जवानी के उस एकाध वर्ष का जिसपर उपन्यास लिखे गए हैं। इसलिए शब्द 'जीवन भर' पर मुझे आपत्ति है।—हाँ आप यह कह सकते है कि अगर ये लोग अपनी अति भावप्रवणता को नहीं छोड़ते तो जिन्दगी भर के लिए घुलना उनके भाग्य में बदा है।

"'बड़ी-बड़ी आँखें' प्रेम की समस्या को लेकर नहीं लिखा गया। इसलिए नायक-नायिका के स्वस्थ प्रेम के विकास और फल का प्रश्न सामने नहीं रहा। प्रेम की समस्या वह माध्यम है जिसके द्वारा मैंने देवनगर के ऊपरी आदर्शों के बीच छिपी हुई हकीकत को बेनकाब किया है। संगीत जब देवनगर को छोड़ता है तो उसे लगता है कि वह उस देश सरीखा है, जिसका प्रधानमन्त्री उदाराशय, स्वप्नशील भविष्यद्रष्टा हो, पर उसके सहकारी अवसरवादी, चाटुकार और खुशामदी हों और जिसके दफ्तरों में भ्रष्टाचार और स्वजनपालन का दौर-दौरा हो। देवनगर वास्तव में प्रतीक है—किसी ऐसे आश्रम, संस्था अथवा देश का, जिसके संचालक बड़े-बड़े दावे करते है, पर चूँकि वे सत्य का सामना करने का और व्यवस्था को नीचे से बदलने का साहस नहीं रखते, इसलिए उनके सारे आदर्श धरे-के-धरे रह जाते है, मेरे उपन्यासों के नायक वे फलक हैं, जिनपर मैं अपने सामाजिक जीवन को चित्रित करता हूँ। इसीलिए वे भावप्रवण हैं और पूरी तरह समझौता नहीं करते, पर महत्त्व उन नायकों और उनके जीवन का नहीं, उन यथार्थताओं का है जिनका उद्घाटन उनकी इतनी भावप्रवणता द्वारा हुआ है।

"जो प्रेम उठाता है वह कई बार अपनी कीमत पर ही व्यक्ति को उठाता है। यदि संगीत और वाणी का प्रेम सफल होता तो संगीत को उसे सारे वातावरण से समझौता करके वहीं रहना होता, पर जैसे कि मैंने पहले कहा है प्रेम उपन्यास की मुख्य समस्या नहीं है।"

मेरा अगला प्रश्न था : "'शहर में घूमता आइना' के अन्त तक पहुँचते-पहुँचते चेतन को जो राहत मिली है वह उसकी भटकन का अन्त है या एक पड़ाव? क्या इस बात की संभावना नहीं कि 'जो पास है उसे ठुकराने और जो नहीं है, जो नहीं मिल सकता, उसके लिए परेशान रहने वाले' चेतन का मन दो दिन में ही चन्दा से भर जाए तथा वह किसी और नीला के पीछे दीवाना हो ले? मुझे लगता है, चेतन से अभी आप मुक्ति नहीं पा सकते।"

अश्कजी बोले, "'शहर में घूमता आईना' पाँच खण्डों में लिखे जाने वाले उपन्यास का केवल दूसरा खण्ड है और प्रकट ही यह पड़ाव है। लेकिन वह महत्त्व-

पूर्ण पड़ाव है, क्योंकि उसके माध्यम से वह धन्ना को समझने के ज्यादा निकट हो गया है। और इसके आगे के उपन्यासों में उसकी भटकन को रोकने वाली वह एक बड़ी रुकावट हो जाती है और वही उसकी शक्तियों को निश्चित राह देती है। वह फिर ऐसे नहीं भटकेगा, यह तो मैं नहीं कह सकता, क्योंकि उपन्यास के चौथे खण्ड में, जिसका काफी भाग 'नई कहानियों' में 'बाँधो न नाव इस ठाँव' के शीर्षक से छप गया है, फिर ऐसी स्थिति आती है, लेकिन वह उससे इसलिए उबर जाता है कि वह प्रेम और वासना की वास्तविकता को समझ गया है।

"जैसा कि मैंने पहले कहा, 'गिरती दीवारें' के पाँच खण्डों में मैं काम, अर्थ और अहं की तीन परिचालन-शक्तियों का विवेचन करना चाहता हूँ। 'गिरती दीवारें' के पहले खण्ड में काम की समस्या प्रमुख है। 'शहर में घूमता आईना' में असफल काम के फलक पर अर्थ और अहं की। तीसरे खण्ड का नाम 'नन्हीं-सी किंदील' है और यह नन्हीं किंदील उस अहं की ही किंदील है जो इसमें से हर एक व्यक्ति के अन्तर में टिमटिमाती-सी जलती रहती है। मेरा यह निश्चित मत है कि जिन्दगी की परिचालक-शक्तियों में अहं सबसे महत्त्वपूर्ण है। पेट कुत्ते, गधे और कौवे भी भर लेते हैं और अर्थ वेश्याओं के पास भी होता है, लेकिन आदमी को इन दोनों से ऊपर उठाने वाली शक्ति केवल अहं की है। और इसी को केन्द्र में रखकर मैंने 'गिरती दीवारें' का तीसरा खण्ड लिखा है। इस खण्ड में मैंने दिखाया है कि किस प्रकार इस अहं पर ज़रा-सी चोट आदमी की ज़िन्दगी की धारा को बदल सकती है और उत्तर की तरफ जाता आदमी दक्षिण की ओर जाने की सोच बैठता है। उपन्यास का तीसरा खण्ड मेरे ख्याल में उसका आधारभूत खण्ड है और इसकी सफलता असफलता पर उपन्यास की सफलता निर्भर है। तीसरे और चौथे खण्ड मैंने अधिकांशतः लिख लिए हैं, लेकिन वे साल-दो साल अभी मेहनत माँगते हैं। पाँचवें खण्ड का नाम मैंने 'इति नियति' रखा है और जहाँ से चारों खण्ड ज़िन्दगी से उलझते हैं, पाँचवाँ मृत्यु से, जो ज़िन्दगी की सबसे बड़ी हकीकत है।

"चेतन से मुक्ति नहीं मिल सकती क्योंकि चेतन ज़िन्दगी की किताब में प्रश्न चिह्नों का प्रतीक है और जब तक यह ज़िन्दगी है प्रश्न चिह्नों से कभी मुक्ति नहीं मिलती। तो भी यदि मैं इस बीच में स्वयं खत्म न हो गया तो पाँच खण्डों में चेतन के जीवन के पाँच वर्षों से मुक्ति पा लूँगा।"

इसी उपन्यास को लेकर मैंने एक और प्रश्न किया, "'शहर में घूमता आईना' के समर्पण में आपने लिखा है कि 'जो लोग सबकुछ लेकर पैदा हुए हैं अथवा कुछ भी नहीं ले सकते, उनके लिए इस उपन्यास में बहुत कुछ नहीं है। यह केवल बीच के लोगों के लिए है।' क्या आप कोई ऐसा गुर जानते हैं जिससे यह उपन्यास बीच के लोगों तक ही सीमित रहे और अन्य लोगों के हाथ न पड़ने पाए?"

प्रश्न के व्यंग्य को ताड़ते हुए अश्कजी ने कहा, "मेरे पास वैसा कोई गुर तो नहीं है, लेकिन इन पंक्तियों के माध्यम से मैंने वैसे लोगों को चेतावनी दे दी है और मेरा ख्याल है कि वैसे लोग इन पंक्तियों को पढ़ने के बाद इसे नहीं पढ़ेंगे। और यदि वे पढ़ेंगे और उन्हें कुछ नहीं मिलेगा तो मुझसे शिकायत नहीं करेंगे। दो-एक वर्ष पहले 'विवेचना' (इलाहाबाद) की एक गोष्ठी में, जो इसी उपन्यास को लेकर हुई, आलोचनाओं के उत्तर में मैंने कहा था कि उपन्यास में जिन्दगी के बारीक सूत्र हैं और यह उपन्यास केवल चेतन का नहीं हम सबका है—हमीं में बड़े भी है और अमरनाथ (सरचश्मा-ए-जिन्दगी) भी, लालू भी, हमीद भी, सेठ हरदर्शन और गोविन्दराम भी—और उन्हीके माध्यम से वे सूत्र दिये गए हैं और चूंकि उनके बारे में मैंने अपनी ओर से कुछ नहीं लिखा, इसलिए जब तक उपन्यास को दो-तीन बार न पढ़ा जाय, उन्हें नहीं पाया जा सकता।

"तब मिटिंग खत्म होने पर गोष्ठी के अध्यक्ष श्री विनयमोहन शर्मा के सामने डा० रघुवंश ने व्यंग्य से पूछा, 'अश्कजी यदि कोई तीन बार आपका उपन्यास पढ़े तो समझ लेगा ?'

मैंने कहा, 'यदि बड़ा (उपन्यास का एक पात्र) इसे दस बार पढ़ेगा तो फिर भी उसके हाथ पल्ले कुछ नहीं आयेगा।'

तब उन्होंने कहा—'अश्क जी आप अपने आलोचकों की बात नहीं मानते, इसलिए आप महान रचना नहीं दे पाते।'

मैंने पलट कर कहा, 'आप तो मानते है, और लिखते भी है, क्या आप दे पाये ?'

और वे चुप हो गये और वहाँ से खिसक गए।

"आपके प्रश्न के संदर्भ में इस घटना के उल्लेख का इतना ही अभिप्राय है कि ऐसे ही बेसमझों अथवा सर्वज्ञों के लिए मैंने वे पंक्तियां लिखी हैं कि वे पुस्तक पर समय नष्ट करके मुझे दोष न दें।"

२२-११-१९६७]

श्री अज्ञेय

कृति भी कृतिकार को रचती है

हिन्दी के मनोवैज्ञानिक उपन्यास को नया मोड देने वालो मे अज्ञेयजी का शीर्ष स्थान है। उनके उपन्यास वर्ग-संघर्ष के उपन्यास नहीं, न ही वे व्यक्ति और व्यक्ति के संघर्ष के उपन्यास हैं। आज के अनिश्चय, अव्यवस्था और जटिलता के युग मे एक ही व्यक्ति के भीतर जो अनेक बहुमुखी व्यक्तित्व उभर आए हैं और उसके कारण उसके भीतर की अतल गहराइयों मे जो अनन्त संघर्ष चल रहा है, उसे मानवता के संचित अनुभव के प्रकाश मे पूरी ईमानदारी के साथ पहचानने की तड़प ही उनके उपन्यासो की मूल प्रेरणा है। 'शेखर एक जीवनी' हो या 'नदी के द्वीप' अथवा 'अपने अपने अजनबी'—सबमे यही जिज्ञासा अपने प्रबलतम रूप मे मिलती है। अज्ञेयजी का विश्वास है कि "व्यक्ति अपने संस्कारो का पुंज भी है, प्रतिबिम्ब भी, पुतला भी। उसी तरह वह जैविक परम्पराओ का भी प्रतिबिम्ब और पुतला है—जिन परिस्थितियों से वह बनता है, उन्ही को बनाना और बदलना भी चलता है। वह निरा पुतला, निरा जीव नहीं है, वह व्यक्ति है, बुद्धि विवेक-सम्पन्न व्यक्ति।"[१]

साहित्य-सृजन के संदर्भ मे व्यक्ति और स्थिति की यही पारस्परिकता कृति और कृतिकार के परस्पर सम्बन्ध के विषय मे भी नए सिरे से सोचने को मजबूर करती है। माना कि साहित्यिक कृति साहित्यकार की सृष्टि है और वह है उसका स्रष्टा। पर क्या कृति और कृतिकार मे सृष्टि और स्रष्टा का ही नाता है, इससे अधिक कुछ नहीं? क्या ऐसा नहीं हो सकता कि कृति को रचने के प्रयत्न मे साहित्यकार स्वयं भी रचा जा रहा हो। जिस कृति को रचना-रचता साहित्यकार अपने बाहर से कट कर भीतर से जुड़ जाता है, उसके भीतर का मानव जाग उठता है और वह दूसरों मे अपने को खोने तथा अपने मे दूसरो को पाने के लिए मचल उठता है, उस कृति ने साहित्यकार को थोड़ा भी न रचा हो, यह कैसे हो सकता है?

यह और इस प्रकार के अनेक विचार कई दिनो से मस्तिष्क मे चक्कर काट रहे थे कि एक दिन अचानक पता चला कि अज्ञेयजी कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय

---

१ 'आधुनिक उपन्यास और दृष्टिकोण', 'कल्पना' जून, १९५२

में भारतीय संस्कृति और दर्शन के 'विज़िटिंग प्रोफ़ेसर' के रूप में अमरीका जा रहे हैं। मन में आया क्यों न इस प्रसंग में उनके उपन्यासों पर उनसे ही चर्चा की जाए। अज्ञेयजी से फ़ोन पर बात हुई तो वे तैयार हो गए।

जब मैं अज्ञेयजी के यहाँ पहुँचा तो भीतर कदम रखते ही पहले मिली सूचना पर विश्वास हो गया। बैठक की प्रत्येक चीज पुकार-पुकार कर कह रही थी कि मालिक उसे छोड़कर कहीं जानेवाला है। अपने आस-पास की प्रत्येक वस्तु सजाकर रखना अज्ञेयजी की विशिष्टता है। अन्य साहित्यकारों की तरह अस्त-व्यस्त रहने में उन्हें विश्वास नहीं। बैठक तो उनकी रुचि के अनुसार विशेष रूप से सजी रहती है। प्रत्येक वस्तु के लिए निश्चित स्थान रहता है और उसे नियत कोण पर बने रहना होता है। पर आज कोई वस्तु भी तो अपने स्थान पर पूर्ववत् नहीं थी। सब चीज़ें अपने स्थान से हिली हुई थीं। सबसे बेहाल तो दीखती थीं पुस्तकें। अलमारियों में भी उलट-पुलट पड़ी थीं और फर्श पर भी बिखरी थीं।

मेरे जाने की सूचना पाकर अज्ञेयजी बैठक में ही आ गए। मैंने कहा, "आज कल तो आप 'पैकिंग' में लगे होंगे।" पैकिंग शब्द सुनते ही उनके होंठों पर मुस्कान की एक रेखा दौड़ गई; बोले, 'पैकिंग' और 'अनपैकिंग' का तो मैं बचपन से ही आदी हूँ। पिताजी कभी एक जगह टिक ही नहीं पाते थे। आए वर्ष उनका तबादला होता था और परिवार को 'शार्ट नोटिस' पर सारा सामान बाँध लेने का अभ्यास हो गया था।" उन्होंने बताया कि इस बार पुस्तकों ने कुछ अधिक तंग किया है। उनसे सत्रह बकसे भर चुका हूँ पर अभी भी पूरी पैक नहीं हुई। उनकी विदेश यात्रा के बारे में मैंने उत्सुकतावश पूछा, "तो फिर अमरीका से आपका लौटना कब होगा?" बोले, "मैंने तो एक वर्ष के लिए स्वीकृति दी है। और भरसक चेष्टा करूँगा कि एक से दूसरा वर्ष न होने पाए।" फिर एक-दम गम्भीर होकर कुछ रुक-रुक कर बोले, "सोचता हूँ, जीवन में लौटना भला कहाँ होता? आगे ही आगे तो बढ़ना होता है। खैर छोड़िए!"

विषय की भूमिका बाँधते हुए मैंने पूछा, "कहानी या उपन्यास लिखने की प्रेरणा आपको जीवन और जगत से प्रायः सीधे मिलती है या उनके प्रति बन चुके अपने किसी दृष्टिकोण या मान्यता से?" अज्ञेयजी ने उत्तर में कहा, "जीवन और जगत् से मिलने वाली प्रेरणा और उसके प्रति अपने दृष्टिकोण से इस तरह की कोई विरोधिता मैं नहीं देखता। क्योंकि मैं मानता हूँ कि जीवन के प्रति दृष्टिकोण भी अपने जीवनानुभव से ही बनता है। निस्सन्देह शिक्षा, संस्कार आदि से बनी हुई धारणाएँ भी हो सकती हैं, जिनके कारण व्यक्ति जीवन और जगत के प्रति एक पूर्वग्रह से आरम्भ करे और तब उसके अनुभव उस पूर्वग्रह से मर्यादित होंगे ही। अर्थात् जीवन के प्रति दृष्टिकोण जीवन के अनुभव को ग्रहण करने की परिपाटी

को प्रभावित करता है और जीवनानुभव दृष्टिकोण को निरूपित अथवा प्रभावित करता है। यह परस्परता तो जीवन का साधारण नियम है। कृतिकार के लिए इसका महत्व और भी अधिक होता है, क्योंकि कृति में आरोपित दृष्टिकोण आधिन ही हो सकता है। दृष्टिकोण कृति में वहीं तक संगत है जहाँ तक कि वह भी उसी जीवनानुभव से उत्पन्न हुआ हो जो कि कृति को प्रेरित करता है।

"मैं नहीं कह सकता कि कहाँ तक इस आदर्श परस्पराश्रय का निर्वाह मेरी रचनाओं में हुआ है, क्योंकि आज के मतवाद-ग्रस्त युग में यह और भी अधिक सम्भव है कि कलाकार थोड़ा-बहुत पूर्वाग्रह ओढ़कर चले। ऐसे भी साहित्य-सिद्धान्त आजकल प्रचलित हैं जिनके अनुसार बिना ऐसे पूर्वाग्रह या मताग्रह ओढ़े अच्छा साहित्य लिखा ही नहीं जा सकता। मैं यही कह सकता हूँ कि सिद्धान्तत मैं ऐसा नहीं मानता और इसलिए यत्नशील रहता हूँ कि जाने या अनजाने मत वाद प्रेरित साहित्य की साधना न करूँ।

"कहने की आवश्यकता नहीं होनी चाहिए कि इसका यह अभिप्राय नहीं होना कि मेरे सिद्धान्त या विचार नहीं है या कि जीवन के प्रति मेरा कोई दृष्टिकोण अभी तक नहीं बना है।"

विषय को आगे बढ़ाते हुए मैंने प्रश्न किया, "साहित्यिक कृति के माध्यम से आप जीवन और जगत के प्रति बन चुके अपने किसी दृष्टिकोण की प्रायः पुष्टि करते हैं या उसकी जाँच की ओर भी अग्रसर होते हैं?" प्रश्न सुनकर अज्ञेयजी चुप रहे। काफी देर तक उसी तरह बैठे रहे, मानो मुझे भूल, अपने भीतर गोता लगाकर गहराइयों में से कुछ ला रहे हों। फिर उनके होंठ फड़के और वे धीरे-धीरे कहने लगे, "*जीना ही जीवन के प्रति दृष्टिकोण की जाँच करना है*—जब तक कि *व्यक्ति जीवन के* अनुभव के प्रति अपने को बिल्कुल ही बन्द नहीं कर ले। उतना बन्द मैंने अपने आप को नहीं किया है—उतना बन्द होना सम्भव भी नहीं है, अगर कोई बन्द होना चाहे भी तो।

"जीवन के प्रति दृष्टिकोण जब एक ओर जीवनानुभव की पद्धतियों को प्रभावित भी *करता है* और दूसरी ओर स्वयं उस अनुभव का परिणाम भी है, तब स्वाभाविक है कि अनुभव प्राप्त करते हुए या उसकी ओर खुले रहते हुए दृष्टिकोण के निरन्तर परिशोधन का प्रयत्न किया जाता रहे—पुष्टि और पड़ताल दोनों ही इस परिशोधन के अंग हैं। पूर्वधारणा का जो अंश अनुभव पर खरा उतरे उसे और दृढ़ता से ग्रहण करना और जो कच्चा या मिथ्या सिद्ध हो उसे छोड़ देना, और जहाँ परिवर्तन की आवश्यकता हो वहाँ परिवर्तन करना—यही शुद्ध दृष्टि है।

"साहित्यिक कृति सर्वदा तो नहीं किन्तु बहुधा आत्मान्वेषण अथवा आत्माविष्कार का साधन भी होती है। रचना प्रक्रिया में ही रचयिता स्वयं अपने को नये अथवा सही रूप में पहचानता है। इस प्रकार कृति जितनी कृतिकार द्वारा रची

जाती है उतनी स्वयं कृतिकार को रचती भी है। कोई भी रचयिता रचना करने से पूर्व और पश्चात् वही का वही नहीं रहता, मेरा विश्वास है सभी कृतिकार इस बात की पुष्टि करेंगे।"

लेखन-प्रक्रिया के माध्यम से आत्मशोध और उसके फलस्वरूप लेखक के जीवन-दर्शन में होने वाले रूपान्तर पर बल देते हुए मैंने पूछा, "किसी कृति को लिखते समय या पूरा करके क्या आपने कभी यह भी पाया कि जिस मान्यता को लेकर वह चली थी उसमें पर्याप्त हेर-फेर की गुँजाइश है?" अज्ञेयजी ने कहा, "इसका लगभग सम्पूर्ण उत्तर दे चुका हूँ। विस्तार में यही कहूँगा कि किसी भी शोध अथवा आविष्कार में दो बातें अनिवार्य होती है, एक तो यह कि आप कुछ मानकर चलें, क्योंकि इसके बिना कोई दिशा ही नहीं मिलती, और दूसरा यह कि जो भी मान-कर चलें उसमें संशोधन या परिवर्तन करने को तैयार हों, क्योकि इसके बिना किसी नये लक्ष्य तक पहुँचा ही नहीं जा सकता। इतना ही नहीं कृति के लिखे जाने के बाद तक उसमें परिवर्तन होते रह सकते है। इन्हीं के कारण नये संस्करणों में परिवर्तन होता है और कभी-कभी समूची रचना रद्दी कर दी जाती है।"

चर्चा को अज्ञेयजी के अपने उपन्यासों की ओर मोड़ते हुए मैंने पूछा, "'शेखर: एक जीवनी' के दूसरे भाग के अन्तिम चरण में चुम्बन का आह्वान स्वीकार करने में शेखर शशि के सुख का निमित्त ही रहा था या उससे कुछ अधिक भी? क्या यही बात 'नदी के द्वीप' के भुवन के बारे में भी नहीं पूछी जा सकती है—रेखा के 'फुलफिलमेंट' के सन्दर्भ में?" प्रश्न तीखा था। अज्ञेयजी बोले, "आप कहते हैं तो जरूर पूछी जा सकती होगी। लेकिन मुझ से नहीं क्योंकि उपन्यास के चरित्रों की कर्म प्रेरणाओं के बारे में उपन्यासकार से कुछ पूछना सिद्धान्ततः गलत है। अगर उसे इन प्रेरणाओं का ब्योरा देना होता तो उपन्यास में दे ही देता। उपन्यास में अगर वह नहीं दिया गया है तो उसका कारण यही हो सकता है कि चरित्र को जीवन्त बनाने के लिए वह अनावश्यक है। किसी भी चरित्र के बारे में सब कुछ जाना जा सकता है यह नहीं कहा जा सकता है। और जिसके बारे में सब कुछ जान लिया गया है या जता दिया गया है वह जीवित चरित्र नहीं है, मिट्टी का पुतला है।"

'शेखर: एक जीवनी' तथा 'नदी के द्वीप' में साम्य खोजते हुए मैंने एक प्रश्न किया, "शशि अथवा रेखा के समर्पण की नींव पर शेखर अथवा भुवन जब अपने भविष्य का भव्य प्रासाद बनाने की सोचते हैं तो क्या शशि और रेखा उनके लिए साधन या अधिक से अधिक प्रेरणामात्र नहीं रह जाती।" उत्तर में अज्ञेय जी ने कहा, "इस मात्र का अभिप्राय मेरे सामने स्पष्ट नहीं है और मेरी समझ में शेखर और भुवन के चरित्र अथवा नारी के सम्बन्ध में उनकी धारणा में अन्तर भी है। शेखर यह मानता है कि नारी अपने प्रिय को आगे बढ़ाने का निमित्त बनती है, यह

भी अनुभव करता है कि उसके जीवन में भी नारी का इस प्रकार का योग रहा है और उसके मन पर इस बात का बोझ भी है। उसको बनाने में कोई टूट जाए इसमें जहाँ वह दानी के प्रति कृतज्ञ है वहाँ इसलिए कुण्ठित भी है कि क्या वह जितना दे सकता है उससे अधिक उसे मिल चुका हो, अर्थात् वह चिर ऋणी रह जाए। भुवन में अपराध का भाव दूसरे ढंग का है, दूसरे कारण से है। उसका अह भी शेखर जैसा प्रबल नहीं है।

"यों अगर आप उपन्यासों से या उपन्यास के चरित्रों से अलग मुझसे यह प्रश्न करना चाहते हों कि क्या मेरी राय में नारी पुरुष की उन्नति का निमित्त मात्र है और उसमें अधिक कुछ नहीं, तो मैं यह उत्तर दूँगा कि ऐसा भी हो सकता है और इससे ठीक उलटा भी हो सकता है और बीच की कई परिस्थितियाँ भी हो सकती हैं। अथवा दोनों परस्पर प्रेरक भी हो सकते हैं। लेकिन दोनों समान रूप से एक दूसरे को मुक्त रख सकें, यह आदर्श स्थिति ही है। उस दृष्टि से 'शेखर एक जीवनी' अथवा 'नदी के द्वीप' में कोई भी पात्र आदर्श प्रेमी नहीं। आदर्श की पहचान कुछ को है और उसकी ओर बढ़ने की प्रवृत्ति भी, बस। कुछ ऐसे भी हैं जो इस आदर्श के घोर विरोधी हैं या कि उसे समझने के ही अयोग्य हैं।"

अपनी जिज्ञासा को आगे बढ़ाते हुए मैंने पूछा, "शशि अथवा रेखा के समर्पण को स्वीकार करके भी क्या शेखर अथवा भुवन अपनी भीतरी अपराध भावना से पूरी तरह मुक्त हो सके?" इसका उत्तर अज्ञेयजी ने यों दिया, "समर्पण का स्वीकार भी तो अपराध भावना का कारण हो सकता है। क्योंकि अपराध-भावना इसीलिए तो है कि यह व्यापार एकपक्षीय रहे? यों अपराध-भावना से पूरी तरह मुक्त होने या न होने का विशेष महत्त्व उपन्यास में नहीं है। यत्किंचित् अपराध की भावना जिस तरह आगे चलकर कर्म प्रेरणा बनती है या चरित्र को ढालती है, उतना ही उपन्यासकार का क्षेत्र है।"

चर्चा को अतीत से हटाकर भविष्य की ओर मोड़ते हुए मैंने प्रश्न किया, 'शेखर एक जीवनी' के तीसरे भाग के लिए आप अपने पाठकों को कब तक तरसाते रहेंगे?" इस प्रश्न से अज्ञेयजी आर्द्र हो उठे और बोले, "उनको क्या तरसाऊँगा। उनसे अधिक तो मैं तरसता हूँ। लेकिन तरसने से कुछ आना-जाना नहीं है। तीसरा भाग एक बार लिखा गया था तभी छप गया होता तो छप गया होता अब वह समापन माँगता जान पड़ता है और मैं भरसक कोई चीज ऐसी अवस्था में छपने नहीं भेजना हूँ जब कि वह मुझे अधूरी जान पड़ रही हो। छप जाने के बाद उसके सम्बन्ध में मेरी धारणा बदले या संशोधन आवश्यक जान पड़े तो दूसरी बात है, वह दूसरे संस्करण में हो सकता है या ऐसा भी हो सकता है कि दूसरा संस्करण होने ही न दिया जाए।"

'शेखर' का तीसरा भाग नहीं तो कुछ और ही सही, इस आशय से मैंने पूछा,

" 'नदी के द्वीप' को निकले प्रायः ९ वर्ष हो गए। इतना लम्बा मौन किस स्फोट का उपक्रम समझा जाए ?" वे बोले, "उन ९ वर्षों में कुछ न लिखा हो, ऐसा तो नहीं है। चार-पाँच पुस्तकें निकली हीं। यों एक छोटा उपन्यास भी लिखा जो अब छप रहा है। शीघ्र निकल जाएगा। उसका नाम है 'अपने-अपने अजनबी' और पात्र विदेशी हैं। कथावस्तु क्या है यह बताना तो कठिन है और शायद बेठीक भी है। पर वस्तु है (कथावस्तु और वस्तु का भेद आशा है आप मुझे समझाने को न कहेंगे)—मृत्यु से साक्षात्कार। किस प्रकार मृत्यु से साक्षात अपनों को अजनबी कर देता है और अजनबियों को अपना; किसप्रकार मृत्यु स्वयं कुछ के लिए अपनी होती है और कुछ के लिए अजनबी, यही उपन्यास की वस्तु है। मेरी समझ में तो उसमें मृत्यु के प्रति पूर्व के स्वीकारभाव और पश्चिम के विरोधभाव की तुलना भी की गई है। यद्यपि जिसे मैं पूर्व की दृष्टि कहता हूँ वह भी एक पश्चिमी पात्र में लक्षित होती है। किन्तु मेरी समझ में उपन्यास में जो है उसका आरोप आप पर या भविष्यत् पाठक पर नहीं करना चाहिए। उपन्यास जल्दी ही आ जाएगा, आप देख लीजिएगा।"

३१-७-१९६१]

o

२

'अपने-अपने अजनबी'

'अज्ञेय' का तीसरा उपन्यास 'अपने-अपने अजनबी' प्रकाशित हुआ और उसके बाद निकलीं अनेकानेक समीक्षाएं। अधिकांश समीक्षाओं में झुंझलाहट का स्वर मुख्य था जो रचना की अपेक्षा रचयिता के प्रति अधिक व्यक्त हुआ था। ऐसा लगा कि 'अज्ञेय' के अब तक के उपन्यासों में यह कृति सबसे अधिक विवादास्पद रहेगी—शिल्प की दृष्टि से ही नहीं, कथ्य के कारण भी।

पिछले दिनों पता चला कि अज्ञेयजी अमेरिका से आ गए हैं और उन्हें यहां आए दो-तीन सप्ताह होने को हैं। बहुत हैरानी हुई इस व्यक्ति पर जो चुपचाप जाने और चुपचाप आने में भी रस ले लेता है। उनके यहां फोन किया तो पता चला कि वे इलाहाबाद गए हैं और रात की गाड़ी से लौटेंगे। अगले दिन सवेरे अज्ञेयजी का फोन आ गया। उन्होंने बताया कि वे शीघ्र अमेरिका लौटने वाले हैं। वहां कैलेफोर्निया विश्वविद्यालय में उन्होंने एक और वर्ष के लिए अध्यापन कार्य स्वीकार कर लिया है। मैं दर्शनार्थ उनके यहां पहुंच गया।

कुछ देर तो इधर-उधर की बातें होती रहीं, पर घूमधाम कर चर्चा शीघ्र ही 'अपने अपने अजनबी' पर आ टिकी। अज्ञेयजी ने पूछा, "आपने 'अपने अपने अजनबी' पढ़ा? कैसा लगा?" मैंने कहा, "पढ़ा और अच्छी तरह पढ़ा। पर फतवा देने में मेरा विश्वास नहीं।" हां, आप कुछ समय निकालें तो इसपर जमकर चर्चा हो सकती है। अज्ञेयजी ने स्वीकृति व्यक्त की और चर्चा चल पड़ी।

उपन्यास की मूल समस्या को उठाते हुए मैंने प्रश्न किया, "मृत्यु के प्रश्न को लेकर आपका उपन्यास 'शेखर : एक जीवनी' रचा गया था। 'अपने-अपने अजनबी' की तो मूल समस्या ही मृत्यु है। मुझे इन दोनों उपन्यासों की आधारभूमि में साम्य दीखता है। आपकी क्या राय है?"

अज्ञेयजी बोले, "मूल समस्या तो वही है। अन्तर केवल यह है कि शेखर के सामने प्रश्न यह था कि मेरी मृत्यु की सिद्धि क्या है, यानी मैं मर जाता हूं तो कुल मिलाकर मेरे जीवन का क्या अर्थ हुआ। पर यहां यह है कि जीवनमात्र के नक्शे में मृत्युमात्र का क्या स्थान है और यहां मैंने दो दृष्टियां सामने लाने की कोशिश की है। एक को मोटे तौर पर पूर्व की कह सकते हैं और दूसरी को पश्चिम की।"

'अपने-अपने अजनबी' में पूर्व और पश्चिम की दृष्टियों को खोजते हुए मैंने कहा, "पूर्व की दृष्टि, मैं समझता हूँ, सेल्मा की है और पश्चिम की दृष्टि को योके अपनाए हुए है। पर मृत्यु तक पहुँचते-पहुँचते दोनों जीवन के प्रति जो निस्पृह हो उठती है, इससे इन दोनों में भेद कहाँ रहता है?"

गहराई में उतरते हुए अज्ञेयजी बोले, "दोनों के मार्ग अलग-अलग हैं। या कह सकते हैं कि दोनों की यात्राएँ समान्तर है। सेल्मा में मृत्यु का सहज स्वीकार है। योके अंत तक अपने दोनों आग्रह बनाए रखती है। एक तो मृत्यु को न मानने का और दूसरे वरण की स्वतन्त्रता का। लेकिन अंत में वह वरती है मृत्यु को ही। और दूसरे, जब वह अच्छे आदमी को साक्षी बनाकर मरना चाहती है तो एक तरह से मृत्यु को स्वीकार भी कर लेती है, क्योंकि सचाई में आस्था, और साक्षी के माध्यम से प्रकारान्तर से अमरत्व, इन दोनों के सहारे वह मृत्यु से ऊपर उठ जाती है।"

मृत्यु के प्रति योके का अन्तिम दृष्टिकोण जिसमें वह उसका वरण कर लेती है, इतना सहसा आता है कि पाठक झुँझला उठता है। इसी बात को ध्यान में रखते हुए मैंने पूछा, "मृत्यु के प्रति योके का पहला दृष्टिकोण, जब वह वर्फ में दब जाती है, क्यों और कैसे उसके दूसरे विजयी-दृष्टिकोण में परिणत हो गया, इसका उपन्यास भर में कहीं संकेत नहीं मिलता। इस परिवर्तन के पीछे झाँकना क्या आपको आवश्यक नहीं लगा—आस्थाएँ या दृष्टिकोण जीवन में से ही तो बनते हैं?"

होंठों पर हल्की-सी मुस्कान लाते हुए अज्ञेयजी बोले, "इस उपन्यास में दो विरोधी दृष्टियों का 'कांट्रास्ट' है जिनका विरोध युक्ति से नहीं सुलझाया जा सकता। कह लीजिए कि दो अलग-अलग आस्थाएँ है। आस्था आस्था है, सिद्धान्त नहीं है। यानी अन्ततोगत्वा वह अहेतुक ज्ञान है। इसलिए कारण देकर यह दिखाना कि कैसे एक आस्था दूसरी आस्था में परिणत हो गई, असम्भव है। इसीलिए यह कहना भी ठीक नहीं होगा कि योके अन्त में वहीं पहुँचती है जहाँ सेल्मा थी। इतना ही है कि वह एक आस्था तक पहुँचती है जिससे कि उसको मुक्ति मिली मानी जा सकती है। जगन्नाथन् अच्छा आदमी है, यह विश्वास अहेतुक है। यह अहेतुक ही योके की आस्था का संकेत है।"

'अपने-अपने अजनबी' में जगन्नाथन् का प्रवेश बड़ा आकस्मिक और अटपटा लगता है। इसलिए मैंने पूछा, "जगन्नाथन् उपन्यास के अन्त में अचानक आ टपकता है, मानो योके को—और साथ ही लेखक को भी—राहत देने के लिए आकाश से कोई फरिश्ता उतरा हो। क्या इससे अधिक भी उसको कोई महत्त्व आप देंगे?"

अज्ञेयजी बोले, "हाँ, वह बिल्कुल आसमान से आ टपकता है। जगन्नाथन् प्रतीक नाम है चाहे जिस भाषा में अनुवाद कर लीजिए। प्रतीक वह भारतीयता

का नहीं है, आस्था का है—आस्था में ही पूर्व और पश्चिम की दृष्टि मिल सकती है। यहां पश्चिम भौतिक पश्चिम नहीं रहता। जिसे हम 'द वेस्ट' कहते हैं, जो ईसाइयत का पर्याय हो जाता है, वह बिलकुल दूसरी चीज है। जगन्नाथन् में अहेतुक करुणा है, दया नहीं, करुणा। नारायण हमेशा से नर का सहभोक्ता रहा है, सभी धर्म किसी न किसी रूप में इस सत्य तक पहुँचते हैं। उपन्यास के अन्त में जगन्नाथन् का आविर्भाव किसी अन्य मूल मानव-चरित्र का प्रवेश नहीं है, केवल इस बात का संकेत है कि योके वहीं पहुँच गई है।"

उपन्यास की पृष्ठभूमि के विषय में चर्चा छेड़ते हुए मैंने पूछा, "'अपने-अपने अजनबी' का वातावरण एकदम विदेशी है और पात्र भी विदेशी हैं। सिवाय जगन्नाथन् के जो उपन्यास के अन्त में अत्यल्प समय के लिए आता है। यहाँ तक कि जिसे आप पूर्व की दृष्टि कहते हैं उसे व्यक्त करने वाला पात्र भी विदेशी है। क्या यह आपकी विदेश यात्राओं का परिणाम है?"

अज्ञेयजी बोले, "पात्रों के नाम जरूर विदेशी हैं, औचित्य-निर्वाह के लिए परिस्थितियाँ भी वैसी ही हैं। लेकिन असल में जैसे मूल समस्या किसी देश से बंधी नहीं है, वैसे ही पात्र भी बहुत अधिक एकदेशीय नहीं हैं। विदेशीपन, यानी इतर देशीपना, उन्हें वहीं तक दी गई है जहाँ तक इन्हें जीवन्त चरित्र देने के लिए आवश्यक थी। जिस तरह समस्या का—मृत्यु साक्षात्कार को—और सब समस्याओं से अलग करके निस्संग यानी आत्यन्तिक रूप देने का प्रयत्न किया गया है। इसी तरह मानव चरित्रों का भी यथासम्भव मानव मात्र के रूप में देखने और दिखाने का प्रयत्न किया गया। किसी देश का हुए बिना, और किसी काल में बंधे बिना, जो देशकालातीत है—उसका विचार नहीं किया जा सकता। लेकिन उपन्यास में बल उसी पर दिया गया है जो कि देशकाल से परे है।"

२ ६-१९६२]

०

३

साहित्य-साधना का सच्चा पुरस्कार ?

'आँगन के पार द्वार' पर साहित्य-अकादेमी-पुरस्कार की घोषणा सुनी तो अच्छा लगा। अज्ञेय हिन्दी के मूर्द्धन्य साहित्यकारों में से है। वे हिन्दी-कविता के युग-प्रवर्त्तक तो हैं ही, हिन्दी के उपन्यास को मानव-मन की गहराइयों तक पहुँचाने का श्रेय भी उन्हें ही है। अज्ञेय को सम्मानित होता देख किसे प्रसन्नता न होगी ? इस प्रसन्नता का एक और कारण भी तो है। पिछले से पिछले वर्ष साहित्य अकादेमी द्वारा हिन्दी की कोई भी रचना-पुरस्कृत नहीं हुई थी और उस से हिन्दी-जगत को लगा था कि उसके साहित्य के साथ ज्यादती हुई है। पिछले वर्ष 'कलम का सिपाही' पर आकादेमी-पुरस्कार की घोषणा हुई तो उसका वास्तविक लेखक कौन है, इस विषय पर ही एक विवाद खड़ा हो गया। पिछले दो वर्षों के इस अनुभव के पश्चात् हिन्दी-जगत् को अज्ञेय के पुरस्कृत होने की घोषणा सुखद लगी।

पर मेरे भीतर एक और जिज्ञासा जगी। साहित्य अकादेमी पुरस्कार की पद्धति को लेकर अज्ञेय से मेरी अनेक बार चर्चा हो चुकी थी और हर बार मैंने उन्हें इस पद्धति का कटु आलोचक पाया था। परिणामस्वरूप मैं यही सोचने लगा था कि इस पुरस्कार के प्रति उनका आक्रोश मुख्यतः इसलिए है कि यह पुरस्कार उन्हें मिला नहीं। एक-दो बार इसकी चर्चा होकर रह गई और पुरस्कार कोई और ले गया। मेरी धारणा बनने लगी थी कि पुरस्कार पाकर अज्ञेय का आक्रोश अपने-आप शान्त हो जाएगा। इस बार पुरस्कार की घोषणा सुनी तो मन में आया कि क्यों न उनसे इस विषय पर एक बार और बात छेड़कर देख लिया जाए कि पुरस्कार के प्रति अब उनका रवैया क्या है।

अज्ञेयजी से मिलते ही मैंने बिना किसी भूमिका के पूछ लिया, "साहित्य अकादेमी पुरस्कार की खबर मिलने पर उसके प्रति आपकी पहली मानसिक प्रतिक्रिया क्या हुई ?"

मेरी आशा के विपरीत वे बोले, "असमंजस की। अकादेमी के पुरस्कारों के निर्णय तक पहुँचने की पद्धति का मैं बरसों से आलोचक रहा हूँ। जब हिन्दी सलाहकार समिति का सदस्य था तब समिति में ही पद्धति की आलोचना करता रहा, तब भी और उसके बाद भी पत्र-पत्रिकाओं में भी उसके विषय में लिखता

रहा हूँ। अकादेमी का पुरस्कार मुझे मिले, ऐसी आकांक्षा कभी नहीं रही और उसके मिल सकने की सम्भावना पर भी कोई विचार मैंने नहीं किया। उसके प्रति विशेष सम्मान का भाव मेरे मन में नहीं था, न अब है। कारण कई बार दोहरा चुका हूँ। सबसे पहला यह कि मेरी समझ में राष्ट्रीय संस्था का पुरस्कार साहित्य पुरस्कार होना चाहिए, अर्थात उसका निर्णय भाषा-वार चिन्तन से ऊपर उठकर किया जाना चाहिए। दूसरे, मैं ऐसी कोई कसौटी नहीं जानता जिसपर शास्त्रीय अथवा शास्त्रसाहित्य और कृति साहित्य दोनों को समान रूप से कसा जा सके। दोनों कोटियों के लिए या तो अलग-अलग पुरस्कार होने चाहिए, या एक ही पुरस्कार अन्तर कर एक प्रकार के साहित्य के लिए दिया जाना चाहिए। तीसरे, यह बताया जाना चाहिए कि पुरस्कार का निर्णय किसके मत का प्रतिपादन करता है। एक तरीका यह है कि आप लोकमत का संग्रह कर लीजिए, तब पुरस्कार मिलने से केवल इतना पता लगेगा कि अमुक रचना के प्रेमी अधिक हैं। या फिर निर्णायक समिति चुनिए और निर्णय उसके नाम से प्रकाशित कीजिए। तब निर्णायकों की मर्यादा और प्रतिष्ठा के आधार पर यह निश्चय किया जा सकेगा कि पुरस्कार का वास्तविक महत्त्व क्या है। यदि निर्णायक में हमारी निष्ठा है तो हम उसके निर्णय से सहमत न होने पर भी उसका मान करेंगे, अगर निष्ठा नहीं है तो निर्णय का कोई मूल्य नहीं होगा। चौथे, निर्णय का आधार भी घोषित किया जाना चाहिए—अर्थात् पुरस्कृत ग्रन्थ के सम्बन्ध में निर्णायकों की सम्मति प्रकाशित होनी चाहिए। एक अज्ञातनामा समिति की ओर से पुरस्कृत होने में इससे अधिक क्या सन्तोष हो सकता है कि पुरस्कार के रूप में एक रकम मिल गई? मान रकम पर नहीं, निर्णायकों द्वारा की गई आलोचना पर ही आधारित हो सकता है।"

अज्ञेयजी के उत्तर से मुझे लगा कि अकादेमी पुरस्कार पाकर भी उनका आक्रोश कम नहीं हुआ, बल्कि उसके प्रति उनकी आलोचना की धार और भी तेज हो गई है। इसलिए चर्चा को थोड़ा मोड़ देते हुए मैंने प्रश्न किया, "साहित्यकार के लिए सबसे बड़ा पुरस्कार आप किसे मानते हैं—रचना प्रक्रिया में होने वाला आत्म-साक्षात्कार, रचना की समाप्ति पर मिलने वाली राहत या सन्तुष्टि, पाठकों या आलोचकों से पाई प्रशंसा अथवा किसी सरकारी या गैर सरकारी संस्था से रायल्टी या पुरस्कार के रूप में मिलने वाला धन?"

अपने भीतर टटोलते हुए से अज्ञेयजी धीरे-धीरे बोले, "यह तो पुरस्कार की आपकी परिभाषा पर निर्भर है। साहित्यकार के लिए सबसे पहली और सबसे बड़ी—और समझ लीजिए अनिवार्य आवश्यकता है वह चीज जिसे आप शायद 'राहत' या 'सन्तुष्टि' कह रहे हैं और जो वास्तव में एक प्रकार की मुक्ति है। हर कृतिकार कृति के द्वारा मुक्त होता है। अगर उस मुक्ति का लाभ और बोध उसको

नहीं होता, तो फिर उसने जो लिखा है वह रचना नहीं है। अगर होता है, तो जहाँ तक रचना का प्रश्न है वह निष्पत्ति पा चुकी है। इसलिए अगर उस निष्पत्ति को ही आप पुरस्कार कहते हैं, तब तो बात वहीं समाप्त हो गई। लेकिन अगर पुरस्कार का अर्थ यह है कि ऐसा कृतिकार प्रमाणित हो जाने पर कृतिकार को कुछ दिया जाए—कुछ उसके 'सामने किया जाए' (पुरस्कार)—तो बात बिलकुल दूसरी हो जाती है। तब पुरस्कार का प्रश्न पाने वाले के सामने उतना नहीं रहता जितना कि देने वाले के। ऐसे कृतिकार को हम—यानी हम सामाजिक—क्या दें। यश, सम्मान, रायल्टी, इनाम? इसका शायद सामाजिक की ओर से भी कोई एक जवाब नहीं हो सकता, और कृतिकार की ओर से भी शायद एक जवाब नहीं होगा। दान, या उपहार, या भेंट में हमेशा देने और पाने वाले व्यक्तियों के चरित्र, उनकी प्रवृत्तियाँ, उनके गुण और उनकी आवश्यकताएँ अपना महत्त्व रखती है। 'जैसी जिसकी पात्रता हो,' 'जैसी जिसकी श्रद्धा हो,' इस तरह के सभी उत्तर अपने स्थान पर सही है, क्योंकि वे इस बात की ओर संकेत करते है कि पुरस्कार के निर्णय का आधार देने और पाने वाले के सम्बन्ध की परस्पर मंगलमयता पर होना चाहिए।"

विषय को आगे बढ़ाते हुए मैंने पूछा, "आपके विचार से, किसी राष्ट्र या भाषा के साहित्य के उत्थान में इस प्रकार के पुरस्कारों का क्या योगदान हो सकता है? इससे पुरस्कृत साहित्यकार को अधिक प्रेरणा मिलती है या उसकी प्रत्याशा में अन्य साहित्यकारों को?" अज्ञेयजी बोले, "इसका उत्तर बहुत दूर तक ऊपर के दो प्रश्नों के उत्तर में हो गया है। प्रोत्साहन के लिए भी पुरस्कार दिए जा सकते है, लेकिन उनका स्वाभाव बिल्कुल अलग है और ऐसे पुरस्कारों की योजना में यह प्रतिज्ञा निहित होती है कि पुरस्कार देने वाला किसी न किसी रूप में उसे पाने वाले से ऊँचाई पर है। अगर ऐसा दावा नहीं है, तो किस आधार पर कोई निर्णय कर सकता है कि किस चीज को प्रोत्साहन देना चाहिए और किसे नहीं? और अगर ऐसा दावा है, तो यही पूछना रह जाता है कि दावा सही है या गलत। हम बच्चों को भी पुरस्कार देते है, विद्यार्थियों को भी पुरस्कार देते हैं। अगर कोई भाषा या साहित्य अपरिपक्व हो, तो उनके विकास में सहायता देने के लिए भी पुरस्कार दिए जा सकते हैं। लेकिन स्पष्ट है कि ऐसा वही कर सकता है जो स्वयं परिपक्व हो—या कम से कम अपेक्षतया अधिक परिपक्व हो।"

उठते-उठते मैंने एक और प्रश्न कर डाला, "साहित्य अकादेमी ने 'आँगन के पार द्वार' को पुरस्कृत किया है। क्या आप भी इसे ही अपनी सर्वश्रेष्ठ रचना मानते है? यदि इसे नहीं तो और किसे?" उत्तर देने के बजाय मुझसे ही प्रश्न करते हुए अज्ञेयजी बोले, "यह प्रश्न मुझसे क्यों पूछा जाना चाहिए? और इसका मेरा उत्तर क्यों विश्वसनीय हो? यों मैंने सुना है कि निर्णायकों में भी कम से कम एक मत यह था कि 'आँगन के पार द्वार' अज्ञेय की सर्वश्रेष्ठ रचना नहीं है। और

मैंने यह भी सुना है कि दो वर्ष पहले भी निर्णायकों के सामने इस पुस्तक का नाम आया था और उन्होंने इसे पुरस्कार के अयोग्य ठहराया था। उस वर्ष पुरस्कार दिया ही नहीं गया क्योंकि कोई भी पुस्तक इस के योग्य नहीं पायी गयी। निस्सन्देह यह हिन्दी के साथ दोहरा अन्याय हुआ। ऐसा मैं अपनी पुस्तक को अलग रख कर भी मानता हूँ। अन्य कुछ भाषाओं में जो पुस्तकें पुरस्कृत हुईं उनसे अधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हिन्दी में उपेक्षित हो गए। भाषावार चिन्तन के दोषों में यह भी एक है। पर यह सब आपके प्रश्न का उत्तर तो नहीं है। और ये सब निर्णय और विचार तो या भी 'गुप्त' माने जाते हैं। इसलिए यह भी मानना होगा कि मैं नहीं जानता कि इस वर्ष, या पिछले वर्ष या उससे पहले निर्णायक कौन थे, कौन-सी पुस्तकें विचारार्थ उनके सामने आयी थीं और किसकी क्या राय थी।

"जहाँ तक मेरा अपना प्रश्न है, मैं अभी तक तो यही मानता हूँ कि मेरी सर्वोत्तम रचना अब से अगली रचना होगी। ऐसा न मानूँ तो आगे लिखना थोड़ा और कठिन हो जाये। और फिर यह भी तो है कि जो लिख दिया जाता है वह लिखे जाने म ही पराया हो जाता है। तब उसको श्रेष्ठ तो क्या, 'अपना' भी मानना कठिन हो जाता है। मैं सच लिखता हूँ, लिख लिखकर सब झूठा करता जाता हूँ।"

२२-४-१९६५]

०

श्री नरेन्द्र शर्मा

कला से कलाकार बड़ा है और कलाकार से बड़ा है समाज

आज के युग में जबकि मानव-मन को छू लेने वाली कविता का स्वर नई कविता के नक्कारखाने में डूबता जा रहा है और आधुनिकता के नाम पर कविता-अकविता का भेद ही मिट चला है, नरेन्द्र शर्मा जैसे कुछ-एक रससिद्ध कवियों की रचनाएँ ही पाठकों के मन-प्राण को झंकृत कर हिन्दी-कविता के प्रति उनकी आस्था को हिलने से बचाए हुए है। नरेन्द्रजी का पहला कविता-संग्रह 'शूल-फूल' सन् १९३४ में प्रकाशित हुआ था। तब से लेकर अब तक उनकी काव्य-साधना तीन दशक पार कर आई है और अभी भी रुकना नहीं जानती, कोई अवरोध नहीं मानती। 'कर्णफूल', 'प्रवासी के गीत', 'मिट्टी और फूल', 'अग्निशस्य' 'कदली-वन' आदि के बाद पिछले वर्ष के आरम्भ में प्रकाशित 'प्यासा निर्झर' उनका ग्यारहवाँ काव्य-संग्रह है। इन्हीं दिनों प्रकाशित 'उत्तरजय' से पहले 'कामिनी' और 'द्रौपदी' नाम से उनके दो और खण्ड-काव्य निकल चुके है।

इस तीस वर्ष की अवधि में हिन्दी-कविता ने कई रूप बदले हैं; अनेक उलट-फेर देखे हैं। एक युग था कि कोलाहल की दुनिया को तजकर छायावाद की सागर-लहरी अम्बर के कानों में अपनी प्रेमकथा कहते न थकती थी। फिर हिन्दी-कविता को मादक स्वप्नलोक से उतारकर यथार्थ की कठोर धरती पर लानेवाला प्रगति-वाद आया, जो बाद में देश-विदेश की उथल-पुथल से घिरकर राजनीति के दलदल में फँसता गया। प्रगतिवाद के इस पलायन के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में प्रयोगवाद और फिर नई कविता का युग आया। देखते-देखते हिन्दी-कविता के क्षेत्र में अनेक काव्यान्दोलन बाढ़ की तरह आए और अनेक प्रतिभाओं को आप्लावित कर अपने साथ बहा ले गए। पर नरेन्द्र शर्मा उन वेगवती धाराओं के बीच रहते हुए भी नदी के द्वीप की भाँति अडिग बने रहे; विभिन्न वादों के आँधी-तूफान उनके अगल-बगल से निकल गए। नरेन्द्र की कविता नरेन्द्र की ही रही। उसपर किसी वाद का लेबिल न लग सका। यह नहीं कि उनकी काव्य-भूमि उन आन्दोलनों से नितान्त अछूती रही। परस्पर विरोधी धाराओं की टक्कर से उनके कथन के कुछ

कोते गिये, उसका रूप और आकार भी थोड़ा बदला, पर उनके काव्य की धुरी—मन और मानव में अटूट आस्था—नहीं हिली, बल्कि उत्तरोत्तर पुष्ट ही होती गई।

गीत नरेन्द्रजी के काव्य का प्राण है। भाव विह्वलता के क्षणों में सहसा फूट निकलने वाले गीतों में ही उनका ओजस्वी व्यक्तित्व पूरी तरह निखरा है। यही नहीं, गीत को उन्होंने निखारा भी है। गीतकार की रचना-प्रक्रिया बड़ी विचित्र होती है। इसलिए पिछले दिनों जब उनके काव्य पर उनसे चर्चा करने का अवसर मिला तो मैंने रचनाप्रक्रिया से ही अपनी बात शुरू करते हुए पूछा, "रचना-प्रक्रिया के दौरान आपको कभी ऐसा भी महसूस हुआ है कि बाहर और भीतर की यथार्थताओं के पहने लगाए सभी वर्ग फीके पड़ने लगे हैं, उनके स्थान पर नये आत्म विस्मृतकारी अर्थ उभर रहे हैं और उनके सहारे चलते-चलते आपको सत्य के निकट से निकटतर पहुँचने का आभास मिल रहा है ?"

प्रश्न सुनकर नरेन्द्रजी कुछ देर मौन रहे, मानो अपने भीतर की गहराइयों से कुछ खोज रहे हों। फिर धीरे धीरे कहने लगे, "रचना-प्रक्रिया रचना के क्षणों तक ही सीमित रहती हो, सो बात नहीं। जीवन के सामान्य क्षणों में भी रचनाकार भावगत और अभिव्यक्तिगत रचना-क्रिया में संलग्न रहता है। यह क्रिया दिखती नहीं है। इसकी परिणति लिखते और दुहराते समय होती है। किन्तु क्रिया बहुत पहले ही आरंभ हो चुकी होती है। खिंचाव लगाव, श्लिगन मिलन, भाव रति, रस निष्पत्ति, आधान-धारणा और रचना का जन्म—यह क्रम कुछ-कुछ वैसा ही है जैसा कि उर्वरा भूमि और सन्तान-प्रसू नारी के सम्बन्ध में घटित होता है। संवेदनशील कवि हृदय, उर्वरा भूमि और जननी बन सकनेवाली जाया में रचना-प्रक्रिया सम्बन्धी समानताएँ होती हैं। भूमि चाहे भौतिक हो, चाहे दैहिक और मानसिक, नैसर्गिक नियम माध्यम भेद के अनुरूप रूपांतरित होकर भी लगभग एक से हैं। संवेदन क्षमता से हीन कवि, रति और रस से अरुचि प्राप्त कवि, आधान और धारणा की दृष्टि से अक्षम कवि लगभग वैसे ही होते हैं जैसे बंजर-ऊसर भूमि या बांझ स्त्रियाँ। जो इसके विपरीत नैसर्गिक क्षमता प्राप्त हैं, उनके लिए रचना-प्रक्रिया शिल्प-कार्य के क्षणों तक ही सीमित नहीं है। शिल्प तो पदार्थ-सर्गावेश है। शिल्प रचना का गात्र एवं अंग या अंश है। तो मैं कहूँगा कि शिल्प के क्षणों से बहुत पहले से जो भाव-कल्प होता रहा है, उसका अपेक्षाकृत अधिक महत्व है रचना-प्रक्रिया के अध्ययन में।

"रचना-प्रक्रिया की प्रत्येक अवस्था और स्थिति में और प्रक्रिया के सम्पूर्ण प्रवाह में रचनाकार प्रभावित और परिवर्तन-प्राप्त होता रहता है—वैसे ही जैसे फसल उगाने वाली भूमि और जननी बननेवाली जाया बदलती रहती है। क्षेत्र-बीज-संयोग से तीनों स्तरों पर रचना होती है। फिर भी भूमि बदलकर भी भूमि रहती है। यह भी सच है कि मूँगफली उगाने वाली भूमि कमजोर हो जाती है।

उसका सत खिंच जाता है। जाया और कवि-के सम्बन्ध में भी ऐसा ही होता है। यों देह-शक्ति की अपेक्षा मनीषा की शक्ति कम से कम दस गुनी अधिक है। और मन अधिक रहस्यमय भी है। देह-भूमि में अप्रज्ञात और प्रज्ञा-दुर्लभ अपेक्षाकृत कम और मनोभूमि में बहुत अधिक रहता है। कुछ कवि तो व्यापक रचना-प्रक्रिया के प्रभाव से अधिक अच्छे व्यक्ति बनते जाते हैं; और कुछ अधिक अच्छे कृति या शिल्पी बनते जाते हैं। कवि का शिल्पगत पदार्थ शब्द और अर्थ है (भाषा है)। अभ्यस्त होकर भाषा का अच्छा प्रयोग कर सकना या दुरुपयोग कर सकना भी संभव है। भाषा के अभ्यासी के लिए इससे बहुत बड़ा खतरा पैदा हो जाता है। पर आत्म-विस्मृति के क्षण, जो रचना-प्रक्रिया के लिए अनिवार्य हैं, कवि को इस खतरे से बचाते रहते हैं।

"रचना-प्रक्रिया नैसर्गिक और स्वभाव की अनुसारिणी और मन और अवसर के अनुकूल हो तो ही सफल है। ऐसी स्थिति में बहुत कम खतरा रहता है। कवि को प्रयोगकर्त्ता या कर्त्ता की अपेक्षा माध्यम ही अधिक रहना चाहिए। मेरा मत और अनुभव ऐसा ही है। अपनी कथा-गीति 'कामिनी' को पहले मैं कुछ कटुता के साथ लिखना चाहता था। मेरी प्रकृति ने विकृति पर विजय पाई या यों कहूँ कि रचना-प्रक्रिया ने मुझे सँभाल लिया। रचना मेरे स्वाभाविक धर्म के अनुसार और मनोनूकूल बनी। वह कटु नहीं मधुर है। कहानी लिखते समय भी मैंने इसका अधिक अनुभव किया है। निष्कर्ष यह निकला कि प्रबन्ध में रचना-प्रक्रिया कवि को अधिक प्रभावित करती है। प्रगीत और गीत तो स्फोट-साध्य होते हैं। रचना-प्रक्रिया इनमें परोक्ष अधिक और प्रत्यक्ष कम होती है। मेरी व्यापक रचना-प्रक्रिया नैसर्गिक अधिक है। मैं उसका माध्यम हूँ। माध्यम अध्येता बनना चाहे, तो उसे बुद्धि के सहारे प्रक्रिया की धारा से तटस्थ होना पड़ेगा। ऐसा भी मैंने किया है।"

'प्रवासी के गीत' युवक कवि नरेन्द्र की प्रौढ़ रचना है। उसकी प्रेरक परिस्थितियों को जानने के लिए मैंने कहा, "मैं 'प्रवासी के गीत' को आपका सर्वश्रेष्ठ-काव्य-संग्रह मानता हूँ, पर आपने उसे क्षयग्रस्त युवक कवि के गीत कहा है और लिखा है कि कवि के जीवन की गति आज भी 'हृदय की कायरता' और 'मन की छलना' के सहारे चलती जाती है। मुक्ति उससे दूर है। वह मुक्ति का मार्ग जानता है, लेकिन फिर भी अपनी बेबसी का गुलाम है। यह उसकी परवशता की चरमसीमा है। जिन बाहरी और भीतरी परिस्थितियों के कारण आज से पच्चीस वर्ष पहले का युवक कवि अपने को 'मरघट का पीपल तरु' महसूस करने लगा था, उनका विश्लेषण करने की कृपा करें तो शायद उससे आज के युवक कवि को प्रकाश मिले, क्योंकि उसका नैराश्य आपके युवक कवि से किसी प्रकार कम नहीं है, अधिक भले ही हो।"

अपने अतीत की ओर मुड़ते हुए नरेन्द्रजी बोले, "बुद्धि ने मुझे विश्लेषण करना सिखाया। मनोविश्लेषण से मैंने जाना कि मेरी अनुभूति, देश-काल की मेरी अवस्था और समाज की अवस्था-व्यवस्था के मनोवैज्ञानिक प्रतिफलन से प्रभावित थीं 'प्रवासी के गीत' की मेरी कविताएँ। मैं अपने आप को और अपने समाज को बदलने के लिए लालायित था। बुद्धि से मैं समझता था कि मैं केवल वह नहीं हूँ जो उन कविताओं के माध्यम के रूप में अभिव्यक्त हूँ। मैं देश-राष्ट्र का नागरिक भी हूँ। समाज की गतिविधि का समझनेवाला चिन्तक और विचारक भी हूँ। व्यक्ति के रूप में मेरी उत्क्रान्ति सम्भव है और सामाजिक क्रान्ति में योगदान करना भी मेरे लिए सम्भव है। उन्हीं सम्भावनाओं को मेरी बुद्धि ने देखा और मुझे दिखाया। अनुभूति की अभिव्यक्ति मेरी कविताओं में है और भूमिका में है बुद्धि-साध्य विश्लेषण का निष्कर्ष। आप और आप जैसे सहृदय मुझे रचनाशील कवि के रूप में ही अधिक पसन्द करते हैं, इसलिए मैं 'प्रवासी के गीत' के कवि के रूप में अधिक प्रिय हूँ। बुद्धिमान के रूप में मैं आप लोगों को नहीं जँचता। मैं इस विषय में विवश हूँ। आप यही चाहते हैं कि मेरी प्रतिभा जननी वाली जाया बनी रहे, बच्चे जनाने वाली दाई न बने। विश्लेषण करनेवाला तटस्थ विचारक दाई का काम करता है। अनुभव के मध्य पड़ा रहनेवाला माध्यम जननी बनने वाली जाया के समान है। यही न?

"किन्तु कभी-कभी ऐसे भी अवसर आते हैं, जब जाया 'नर्स' बन जाती है या अगेंही क्रान्तिकारिणी या समाजसेविका बनती है। ह्रासोन्मुख विघटित समाज अस्त-व्यस्त-सा लगता हो और भावुक व्यक्तित्व भयग्रस्त प्रतीत होता हो, तो नैसर्गिक 'धारा' को 'राधा' का रूप देना होता है। यह ज्ञान मैंने बुद्धि से ग्रहण की थी और अपनी भूमिका में व्यक्त की। हृदय और बुद्धि का द्वन्द्व मैंने अपने भीतर बहुत देखा है। अपने स्वभाव के अनुसार मैंने न अपने हृदय को अपना समझा है, और न अपनी बुद्धि को मैंने अपनी चेरी बनाना चाहा है। हृदय मेरा प्रेम और सौन्दर्य का आश्रित रहा है और बुद्धि समाज की सेवा के लिए लालायित रही है। मेरा व्यक्तित्व सिद्ध व्यक्तित्व नहीं है। इसलिए मैं नई पीढ़ी को कोई सन्देश या उपदेश देने लायक नहीं हूँ। भविष्य नई पीढ़ी के हाथ में है, इसलिए यही कहूँगा कि वह भविष्य के प्रति अपने दायित्व को समझे। अनुभव अवस्था-सापेक्ष है। न वह निरपेक्ष, न अनुभव करनेवाला। हम अवस्था से प्रभावित होते हैं और अवस्था को बदल भी सकते हैं। आज का अनुभव तिक्त है तो कल मधुर भी हो सकता है। हृदय और बुद्धि का धनी, यह मानव उभयधर्मा है। वह हृदय का दान भी करे और बुद्धि का सदुपयोग भी शिवत्व का दे। प्यार करो अन्य को, हँसो अपने आप पर। इसके विपरीत, प्यार अपने आप पर और हँसना अन्य पर, यह नीति खोटी है। मैं अपने आपको, औरों को यही सीख दे सकता हूँ।"

नरेन्द्रजी की काव्य-कृतियों में आरोपित दर्शन की बात उठाते हुए मैंने कहा, "लगता है, आपकी अधिकांश रचनाएँ भावविह्वलता के क्षणों में लिखी गई हैं और शायद इसीलिए वे अनुपम है। पर आपके संग्रहों में ऐसी कविताओं की भी कमी नहीं जिनमें अध्यात्म-लिप्सा ने आपके कवि को पृष्ठभूमि में धकेल कर पूरी रचना को औपनिषदिक् ज्ञान की प्रतिध्वनि से भर दिया है। आर्य-समाज से आपका घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। 'अकाल वृद्धि-वार्द्धक्य' के ये संस्कार आपको वहीं से तो नहीं मिले ?"

मेरे अनुमान की पुष्टि करते हुए नरेन्द्र शर्मा बोले, "आर्य-समाज ने मुझे यह संस्कार दिया कि मैं व्यक्ति-रूप में समाज का अभिन्न अंग हूँ और इस नाते समाज का सांगोपांग श्रेष्ठत्व या आर्यत्व मेरे लिए श्रेयस्कर है। व्यक्तिगत रूप में मेरा जो प्रेय है, वह भी समाज-सापेक्ष श्रेय पर सौ बार निछावर है, यह मेरी धारणा है। इस धारणा को श्रीराम के प्रति मेरी भाव-भक्ति ने और भी पुष्ट किया है। अपनी भाव-भक्ति को सुधारते रहने के लिए मैं बुद्धि का ज्ञानार्जन भी लगाता रहा हूँ। जैसी अल्प-स्वल्प बुद्धि, वैसा ही अल्प-स्वल्प मेरा ज्ञान है। दोनों में से कोई भी अभिमान के योग्य नहीं है। इसलिए मेरी कविता का यह अंग सुविकसित नहीं है और न आकर्षक ही। रही अध्यात्म के प्रति मेरे मन में आकर्षण की बात, सो मैं यह कहता हूँ कि पंचकोशी मेरी व्यक्ति-सत्ता में देह से आत्मा तक पाँचों कोश आत्मीय सम्बन्ध-बन्धन में बँधे हैं। इनमें से कोई भी पराया नहीं है। इसलिए अध्यात्म-क्षेत्र भी पराया कैसे माना जाए? उस क्षेत्र में मेरी गति अधिक नहीं है, उपलब्धि भी न कुछ के बराबर है। अकाल-वार्द्धक्य बहुत कुछ तो देश-काल-गत है; कुछ स्वभाव-विपर्यास के कारण है और कुछ प्रतिष्ठा की भूख से पैदा होता रहा है। भारतीय संस्कार भी कुछ ऐसा ही है। पराई भाषा और पराये संस्कारों का बोलबाला ज्यों-ज्यों बढ़ता गया, भारतीय समाज में भारतीय भाषा के कवियों का स्थान नगण्य होता गया। वैसे भी किसान, जाया और कवि, जो नैसर्गिक रचनाकार हैं, आज के समाज में गौण स्थान पाते हैं। बिचौलियों और प्रबन्धकों की चढ़ बनी है। आज की स्थिति में कवि का अकाल-वार्द्धक्य अनहोनी घटना नहीं है। त्राण संस्कारी पाठकों की संख्यावृद्धि और आत्मीयतावृद्धि के द्वारा ही संभव है। कलियुग में संघशक्ति का महत्त्व है। संघशक्ति से आत्मीयता और बल प्राप्त करके अकालवृद्ध कवि भी च्यवन ऋषि की भाँति ही फिर चिर-तरुण बन सकता है।"

नियति के आगे नरेन्द्रजी के आत्म-समर्पण के प्रति आश्चर्य प्रकट करते हुए मैंने पूछा, "आपकी रचनाओं में ओज है, शक्ति है और है जीवन और जगत की विषमताओं से लोहा लेने का दम। इन गुणों के कारण आपकी कविता पाठकों में आत्म-बल जगाती है। पर जब वह आप जैसे सशक्त व्यक्तित्व को भी नियति के

हाथ लाचार देखता है तो उसकी हिम्मत टूटने लगती है। यह नियतिवाद आपको बार-बार क्यों घेर लेता है ?"

नियतिवाद की अपनी संकल्पना को निरूपित करते हुए नरेन्द्र शर्मा ने कहा, "मेरा नियतिवाद यूनानी नियतिवाद नहीं है। नियति और प्रकृति मेरी दृष्टि में परम चैतन्य के प्रत्यक्ष और परोक्ष तन्त्र मन्त्र हैं। इनसे मेरा विरोध क्यों हो ? अपनी नियति और प्रकृति का जानना आत्म साक्षात्कार का ही एक अंग है। मैं द्वैत और द्वन्द्व की भूमि में अद्वैत और द्वन्द्वातीत की ओर अग्रसर होते रहने के क्षणों में नियति के प्रति नतमस्तक होता हूँ। मेरे लिए यह पुरुषार्थ की पराजय नहीं है। व्यक्ति के रूप में जो पाना या करना चाहता हूँ, यदि राम उसे मेरे योग्य न मानें, तो मैं नियति के सम्मुख सिर झुका दूँगा। नियति चाहे माया हो या वह नियामिका शक्ति हो। मैं उसे राम की आज्ञाकारिणी ही मानता हूँ। मेरा अहं वैयक्तिक सफलता में ही सार्थक हो, ऐसा नहीं है। मैं वैयक्तिक असफलता को भी जीवन की सफलता का अंग मानता हूँ। नियति को अपना शत्रु नहीं हितू मानता हूँ। मैं दीन होकर भी हीन नहीं हो जाता।

"इस सम्बन्ध में एक बात और भी कहनी है। दार्शनिक चेतना ही इस विषय में सर्वोपरि हो, यह बात नहीं। नियतिवाद से निर्वाह करके मैं सामान्य भारतीय परम्परा और सामान्य जन के व्यवहार के साथ साधारणीकृत अभिव्यक्ति को भी अपनाता हूँ। इस प्रकार मैं भद्रता और प्रतिष्ठा को सहज प्राप्त कर लेता हूँ—अपनी दृष्टि में।"

'प्रवासी के गीत' की भूमिका में नरेन्द्रजी ने कवि के क्षयरोग का उपचार बताते हुए इस बात पर बल दिया है कि 'उसे अपनी रक्षा करने के लिए सामाजिक और राजनीतिक प्रगति के साथ चलना होगा। दोनों क्षेत्रों में क्रान्ति उपस्थित करने के लिए उसे पूरा सहयोग देना होगा। एकाकी बने रहकर वह अपनी रक्षा न कर सकेगा।' इस प्रसंग को उठाते हुए मैंने कहा, "यह तो माना कि केवल कविता में न जीकर कवि को जीवन भी भोगना और सहना होगा। जीवन-सरिता के तट पर खड़े-खड़े कल्पना करते रहने से वह अपनी कुण्ठाओं को ही बढ़ाएगा। पर क्या आप उसे सामाजिक और राजनीतिक हलचलों में भी घसीट लाना चाहेंगे ? राजनीति और नेतागीरी के चक्कर में पड़कर बड़े-बड़े कवियों का जो ह्रास हुआ है, वह आपसे छिपा तो नहीं है ?"

नरेन्द्र शर्मा बोले, "आंशिक रूप से तो मैं इस प्रश्न का उत्तर दे चुका हूँ। किन्तु रही राजनीतिक आन्दोलनों में भाग लेने की बात, सो मेरा यह स्पष्ट मत है कि यदि अवसर आए तो कविता करना छोड़कर भी कवि को नागरिक धर्म को प्राथमिकता देनी चाहिए। वैसे कविता में भी नागरिक दायित्व, युग बोध और सामाजिक चेतना को अभिव्यक्ति दी जा सकती है। वर्णाश्रम धर्म को तिलांजलि

देकर, नवयुग ने समष्टि-धर्म को अपनाया है। नागरिक होना और कवि होना परस्पर-विरोधी भी नहीं हैं। नेतागीरी, मुल्कगीरी और सिपाहगीरी उनके लिए है, जिनका स्वभाव-धर्म इनके अनुकूल हो। मैं कवि के लिए कवि-नागरिक या नागरिक-कवि के जीवन को ही उपयुक्त समझता हूँ। राजनीतिक और सामाजिक चेतना के साथ-साथ वैज्ञानिक चेतना भी हो, तो और अच्छा है। इनके योग से कवि और अच्छा कवि-नागरिक बन सकता है। एकांतिक साधना और अनेकांतिक ज्ञान के बीच, आधुनिक चेतना व्यवधान का होना अनिवार्य नहीं मानती। हाँ, मैं राजनीतिक सत्ता के लोभ को बुरा समझता हूँ और बुरा समझता हूँ राजनीतिक दाँव-पेंचों को। गांधीजी के मार्ग पर चलकर राजनीति, धर्मनीति और भाव-बोध को सहज में साथ-साथ निभाया जा सकता है। लोकरंजन के लिए मैं लोक-प्रिय 'प्रवासी के गीत' को सहर्ष सौ बार सेवा-धर्म पर निछावर कर सकता हूँ। कला से कलाकार बड़ा है और कलाकार से समाज बड़ा है और समाज से ईश्वर। वैसे इन सबके बीच प्रेम का सम्बन्ध शाश्वत है। शोभा इसीमें है कि—'दोऊ परत पैयाँ, दोऊ लेत है बलय्याँ, इन्हें भूल गई गय्याँ, उन्हें गागरी उठाइबौ।'

"राजनीति और नेतागीरी शक्ति और सम्पदा के लोभ से अपनाई जाएँ, तो बुरी है। शक्ति और सम्पदा का लोभ साहित्य-क्षेत्र तक सीमित रहकर भी बुरा है। दुष्प्रवृत्तियाँ प्रत्येक क्षेत्र को दूषित कर सकती हैं। हाँ, राजनीति और नेतागीरी में अधिक बड़े मानव-समुदाय से खिलवाड़ होता है। इसलिए परिणाम और भीषण होते है। गांधीजी की राजनीति और नेतागीरी में क्या दोष था भला? मैं तो कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ ठाकुर को छोड़कर भी गांधीजी का अनुयायी बनना ही अधिक पसन्द करूँगा। इसमें सुख की बात यह भी है कि गांधीजी तुलसी बाबा के अनुयायी थे।"

नरेन्द्रजी ने अभी तक कोई महाकाव्य नहीं लिखा है। इसका कारण जानने की इच्छा से मैंने कहा, "आपका पहला काव्य-संग्रह 'शूल-फूल' निकले तीन दशक होने को है। तब से आपकी काव्य-साधना निरन्तर चल रही है और दस-बारह कविता-संग्रह निकल चुके हैं, पर आपके खण्ड-काव्य केवल दो निकले हैं और महाकाव्य तो एक भी नहीं! क्या महाकाव्य की दिशा में आपने कभी सोचा ही नहीं? कृपया बताएँ, ऐसी कौन-सी भीतरी मजबूरियाँ हैं जो आपको इस ओर प्रवृत्त होने से रोकती है?"

मुझे आश्वस्त करते हुए नरेन्द्रजी बोले, " 'उत्तर जय' नाम से मेरा तीसरा खण्ड-काव्य भी प्रकाशित हो गया है। किन्तु यह सच है कि मैं प्रबन्ध-काव्य की रचना बहुत अधिक नहीं कर सका हूँ। कुछ वर्षों से एक आधुनिक महाकाव्य रचने की सोचता रहा हूँ। किन्तु अभी मैं अपने में आवश्यक योग्यता का अभाव पाता हूँ। आजीविका के लिए काम-काज से अधिक अवकाश भी नहीं निकाल पाता।

अध्ययन, पर्यटन और एकांत साधना के लिए कुछ सुविधाएँ भी चाहिएँ। वे मुझे उपलब्ध नहीं है। या सामान्य भारतीय नागरिक को सुविधाएँ प्राप्त कहाँ हैं? मेरा जीवन सामान्य जन के जीवन से बहुत अधिक भिन्न भी कैसे हो सकता है? ऐसी स्थिति में धीरे धीरे और थोड़ा थोड़ा काम ही हो सकता है। लेकिन मैं एक बड़ा प्रबन्ध-काव्य लिखूँगा अवश्य। इसके योग्य भी मुझे बनते रहना है। आगामी दशक में दो एक प्रबन्ध-काव्य पूरे हो जाएँगे, ऐसी आशा है।"

नरेन्द्रजी के नये काव्य-संग्रह 'प्यासा निर्झर' से मुझे लगा कि वे गीत से किनारा काटने लगे हैं। इसलिए मैंने कहा, "गीत आपके काव्य का प्राण है। गीतों में आपके व्यक्तित्व का जो निर्मल और निश्छल रूप प्रतिबिम्बित मिलता है, वह अमर है। पर अब लगता है, निर्झर का संगीत छोड़, आप 'प्यासा निर्झर' बन कर 'आधुनिकता' की रौ में बह चले हैं। आज के गीतकार की हीन-भावना ने कहीं आपको भी तो नहीं छू लिया? गीतकार होना कोई अपराध तो नहीं है।"

प्रश्न बेहद तीखा था, पर तनिक भी उत्तेजित हुए बिना नरेन्द्रजी संयत स्वर में बोले, "'प्यासा निर्झर' में कुछ गीत भी संगृहीत हैं। उसके प्रकाशन के उपरान्त भी मैंने गीत लिखे हैं। गीत लिखना मैं हीन कार्य नहीं मानता। गीत के सम्बन्ध में मेरी रुचि वैसी ही है, जैसी पहले थी। गीत, प्रगीत और कविता की अन्य विधाओं को मैं विषय और अवसर के अनुसार सदा से ही अपनाता रहा हूँ। मैं विधा और रूप प्रकार को अधिक महत्ता नहीं देता। कथ्य को देखकर कथन की शैली आप से आप उपस्थित हो जाती है। यों आधुनिक कविता में गीत और अगीत दोनों के लिए स्थान है। मैं विधा के नाम पर एकांतिक आग्रही नहीं हूँ। फिर भी अत्यधिक आग्रह के साथ लिखी जाने वाली, विदेशी शैली की कविता के विरुद्ध अपनी प्रतिक्रियावश मैं अधिकतर छंदोबद्ध कविताएँ ही इधर लिखता रहा हूँ। यह भी आग्रह है और मुझे इससे ऊपर उठना चाहिए। पर मैं आर्यसमाजी, सत्याग्रही और अर्गानवादी रह चुका हूँ। निराग्रह अपनाना चाहता हूँ। न जाने चाह पूरी कब होगी।"

३-१ १९६५]

०

श्री विष्णु प्रभाकर

नारी की मुक्ति की खोज

पिछले दिनों एक पत्रिका के पन्ने उलट रहा था कि सहसा दृष्टि एक लेख पर जा टिकी; शीर्षक था—'विष्णु प्रभाकर : अपनी निगाह में'। उसे पढ़ने लगा तो पढ़ता ही गया। कहीं अटका नहीं, चौंका नहीं। लेखक अपने संघर्ष भरे जीवन की संगतियों-विसंगतियों की चर्चा कर रहा था। विसंगतियाँ किसके जीवन में नहीं होतीं और संघर्ष से कौनसा साहित्यकार बच सका है, बच सकेगा? लेख के अंत तक पहुँचने ही वाला था कि एकाएक स्तब्ध रह गया। लेखक क्षमा-याचना के साथ कह रहा था, "मैंने अपनी रचनाओं की चर्चा नहीं की है; करने योग्य कुछ है भी नहीं, मुझे अपनी रचनाएँ प्रायः अच्छी नहीं लगतीं और दूसरों की प्रायः अच्छी लगती हैं। मैंने अभी तक किसी ऐसी रचना की सृष्टि नहीं की जो मेरे बाद भी जी सके, यद्यपि ऐसी रचना करने की चाह जरूर है जो मेरे मरने के सौ साल बाद भी पढ़ी जा सके।"

बेहद झुँझलाहट हुई विष्णु प्रभाकर के ये शब्द पढ़कर। झुँझलाहट इस लिए और भी हुई कि मुझे उनकी यह बात सत्य से कोसों दूर और एकदम निराधार लगी कि उन्होंने अभी-तक किसी ऐसी रचना की सृष्टि नहीं की जो उनके बाद भी जी सके। विष्णु प्रभाकर को भले ही अपनी रचनाएँ अच्छी न लगती हों, पर उससे यह निष्कर्ष निकालना कहाँ तक संगत होगा कि उनके पाठकों को भी उनकी रचनाएँ अच्छी नहीं लगतीं? उनकी अन्य कृतियों को कुछ देर के लिए भूल जाएँ तो भी उनकी धवल कीर्ति को अमर रखने के लिए उनके उपन्यास 'निशिकान्त' की कमला ही पर्याप्त है। उपन्यास के नायक निशिकान्त की जीवन-व्यापी कायरता से भले ही लोगों को शिकायत रही हो, पर कमला धीरे-धीरे पाठकों के मन और प्राण में बसती जाती है और वे धर्म एवं समाज के आँधी-तूफानों से अकेले जूझती इस निडर विधवा को मन्त्र-मुग्ध देखते रह जाते हैं। कमला के अलावा 'तट के बन्धन' की नीलम और 'स्वप्नमयी' की अलका भी भुलाए नहीं भूलेंगी—अलका चाहे अपनी विफलताओं के कारण ही याद रहे। जिन लोगों ने विष्णु-प्रभाकर की 'नाग-फांस,' 'शरीर से परे,' 'धरती अब भी घूम रही है,' 'चाची,' 'अभाव' आदि कहानियाँ और 'सीमारेखा' 'आँचल और आँसू', 'और वह जा न

सकी,' 'सम रेखा विषम रेखा' नामक एकांकी पढ़े हैं वे निस्संकोच इस बात की गवाही देंगे कि विष्णुजी की अनेक रचनाएँ पाठकों के मन पर अपनी अमिट छाप छोड़ गई हैं।

तो फिर विष्णु प्रभाकर का अपने साहित्य के विषय में इतनी विरक्ति क्यों है? हो सकता है कि ऐसी कोई बात न हो और अपनी रचनाओं की चर्चा से बचने के लिए ही उन्होंने यह रास्ता अपनाया हो। अच्छा, यदि ऐसा है तो क्यों न उनकी रचनाओं पर उनसे चर्चा की जाए। देखें, वे कैसे बच पाते हैं। वैसा सुयोग भी मिल गया।

चर्चा का आरम्भ करते हुए मैंने उनके उपन्यास की ओर प्रवृत्त होने के बारे जिज्ञासा प्रकट की, "आपने सफल कहानियाँ लिखी हैं और एक से एक बढ़िया नाटक भी। फिर भी आप बार बार उपन्यास की ओर आकृष्ट हुए हैं। कृपया बताएँ आप कब और उपन्यासकला की किस विशिष्टता के कारण उसे अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाने को मजबूर होते हैं?"

अपने भीतर टटोलते हुए से विष्णुजी बोले, "आपने जो 'सफल' और 'बढ़िया' विशेषणों का प्रयोग किया उसके सम्बन्ध में तो कुछ कहने की धृष्टता मैं नहीं करूँगा, लेकिन यह सच है कि मैंने कहानियाँ और नाटक लिखे हैं। अभी भी लिख रहा हूँ और मूलतः मैं अपने को कहानीकार ही मानता हूँ। उपन्यास लिखने की ओर मैं क्या प्रवृत्त हुआ, इसका उत्तर देना बहुत कठिन नहीं है। नाटक की सीमाएँ हैं—वार्तालाप और काष्ठता की सीमाएँ। कहानी की भी सीमाएँ हैं। कहानी में हम जीवन के किसी एक पक्ष विशेष को ले सकते हैं। 'किसी एक भाव के घटनात्मक, इकहरे, रसपूर्ण चित्रण का नाम कहानी है' या 'किसी अस्थायी मनोदशा, परिस्थिति या वातावरण का धुमावदार, नुकीला या एकदम हलका चित्रण भी कहानी हो सकती है।' परन्तु पूरे जीवन का विशद चित्रपट प्रस्तुत करना उसके माध्यम से सम्भव नहीं है। संकेतों और प्रतीकों के द्वारा ही विराट की छवि देनी पड़ती है। जीवन में वामन और विराट दोनों की आवश्यकता और अनिवार्यता है। लेकिन न वामन विराट है न विराट वामन। दोनों की स्वतन्त्र सत्ता है। उपन्यास के मुक्त क्षेत्र में अभिव्यक्ति पर कोई बन्धन नहीं है। उसका कैनवास विस्तृत है। वह सम्पूर्ण की उपलब्धि है। एक साथ कई स्तरों और धरातलों पर वह चलता है। एक दूसरे से बिलकुल भिन्न चित्र एक विस्तृत कैनवास पर अपनी स्वतन्त्र सत्ता के साथ उभर सकते हैं। कहूँगा यथार्थ को प्रगट करने का वह सबसे सशक्त माध्यम है। मैंने आवश्यकतानुसार ही अभिव्यक्ति के ये माध्यम स्वीकार किए हैं, लेकिन मन को मुक्त करने का आनन्द जितना उपन्यास के माध्यम से सम्भव हो सकता है उतना कहानी या नाटक के माध्यम से नहीं।"

जीवन के प्रति एक बार जो दृष्टिकोण बन जाता है, साहित्यकार अपनी

रचनाओं में प्रायः उसी की पुष्टि करने की चेष्टा करता है। यह प्रवृत्ति उसके लेखन मे गतिरोध ला देती है। पर जो कृतिकार लिखते समय अपने को बाँधता नहीं, बल्कि उत्तरोत्तर खोलता ही जाता है, प्रत्येक रचना उसके लिए उपलब्धि बन जाती है। विष्णु प्रभाकर के कृतिकार को निकट से देखने की इच्छा से मैंने पूछा, "कहानी, नाटक, उपन्यास आदि लिखने की प्रेरणा आपको जीवन और जगत से सीधे मिलती है या उसके प्रति बन चुके अपने किसी दृष्टिकोण से ? और फिर साहित्यिक कृति के माध्यम से आप जीवन के प्रति बन चुके किसी दृष्टिकोण की प्रायः पुष्टि ही करते हैं या उसकी जाँच की ओर भी अग्रसर होते हैं ?"

प्रश्न का स्वागत करते हुए विष्णुजी बोले, "नाना कारणों से नाना लेखक अभिव्यक्ति का माध्यम स्वीकार करते है। लिखने की इच्छा बचपन से मन में होने पर भी अपनी वेदना को व्यक्त करने के लिए ही मैंने अभिव्यक्ति का सहारा लिया। इसलिए यह कहना अधिक संगत होगा कि लिखने की प्रेरणा मुझे अपने जीवन से सीधे मिली है। दृष्टिकोण का प्रश्न बाद में उठा। यों दृष्टिकोण हरेक का अपना होता है। मेरा भी है। लेकिन उस दृष्टिकोण को प्रस्तुत करने के लिए मैंने साहित्य को माध्यम नहीं बनाया। साहित्य के माध्यम से मेरा लक्ष्य मनुष्य की खोज ही रहा है। जहाँ खोज है वहाँ दृष्टिकोण की पुष्टि का प्रश्न नहीं उठता। वहाँ तो खुली जाँच ही सम्भव है। लेकिन मैं यह स्वीकार करूँगा कि प्रारम्भिक काल में मुझ पर तत्कालीन वादों का प्रभाव पड़ा है। जिस समय लिखना शुरू किया था, मन और मस्तिष्क पर आर्य समाज छाया हुआ था। एक दिन उसकी जकड़ ढीली हुई और गांधी की राष्ट्रीयता तथा मानवता ने उसका स्थान ले लिया। लेकिन वह भी मुझको बाँध नहीं सकी। आज मात्र मानवता की खोज ही मेरा लक्ष्य है। अर्थात् अपने को समझने की खोज। अपने और दूसरों के सम्बन्धों की खोज। वैयक्तिक 'स्व' से समष्टिगत 'स्व' के समन्वित होने की प्रक्रिया की खोज। इसका कोई अन्त नहीं है। कहानी या उपन्यास के प्रति मैं अगम्भीर भाव नहीं रखता। आज के वैज्ञानिक युग में मनोरंजनपरक साहित्य का महत्त्व अस्वीकार नहीं किया जा सकता। परन्तु वह साहित्य का मानदण्ड कभी नहीं हो सकता। जीवन की आलोचना या खोज ही उसका बल है। मैं इसीको जाँच कहता हूँ।"

विष्णु प्रभाकर की रचना-प्रक्रिया के विषय में मैंने जिज्ञासा प्रकट की, "रचना-प्रक्रिया के दौरान क्या आपको ऐसा भी लगा है कि अपने बाहर और भीतर की यथार्थताओं के पहले लगाए गए सभी अर्थ फीके पड़ने लगे हैं, उनके स्थान पर नये आत्मविस्मृतकारी अर्थ उभरने लगे है और आपको सत्य के निकट से निकटतर पहुँचने का आभास मिल रहा है; यदि हाँ तो कृपया बताएँ कि अपनी किस कृति में आपको ऐसी अनुभूति सर्वाधिक हुई है।"

प्रश्न सुनकर विष्णु प्रभाकर कुछ समय के लिए खो गए, मानो भीतर की गहराइयों में उतर रहे हों, फिर उनके होंठ फड़के और वे धीरे-धीरे बोलने लगे, "प्रायः ही ऐसा होता है कि जो कुछ लिखना चाहता हूँ वह काफी समय तक मस्तिष्क में घूमता रहता है और जब उसके लिए वहाँ रुकना असम्भव हो जाता है तभी वह कागज़ पर उतरता है। ऐसी स्थिति में जो परिवर्तन होने होते हैं वे लेखनी हाथ में आने से पहले ही हो लेते हैं। फिर भी ऐसे उदाहरणों की कमी नहीं है कि पहले के लगाए अर्थ या पहले की मान्यताएँ फीकी पड़ गई हैं। लेखक मैं नहीं रहा हूँ, बल्कि किसी के इशारे पर चलने वाला यन्त्र मात्र रह गया हूँ। आश्चर्य हुआ है कि जो कुछ मानकर चला था उसके बिल्कुल विपरीत न सही लेकिन उससे भिन्न भी लिखा गया है। एक कहानी है 'अपना अपना सुख'। जब उसको लिखने का विचार मन में उठा तो मैं मनुष्य की नियति को लेकर व्यंग्य करना चाहता था। मगन एक घरेलू नौकर है। गाँव का रहने वाला है। उसकी पहली पत्नी मर जाती है, दूसरी भी मर जाती है। अपने बच्चों के सुख के लिए (वस्तुतः अपने सुख के लिए) वह तीसरी पत्नी चाहता है। लेकिन होता ऐसा है कि वह पत्नी प्राप्त करने के चक्कर में भावी ससुर की हत्या करके जेल पहुँच जाता है। जिन बच्चों के सुख के लिए वह पत्नी चाहता है वे अब बिल्कुल अनाथ रह जाते हैं। जब कहानी लिखने बैठा और समाप्ति की ओर बढ़ा तो वह व्यक्ति एक ऐसा चरित्र बन गया जो हत्यारा होकर भी अपनी सन्तान के लिए ही नहीं बल्कि सन्तान मात्र के लिए संवेदना से भर उठा। व्यक्ति की वेदना में से ही वह समष्टि की वेदना को पा लेता है।

"'स्वप्नमयी' के सम्बन्ध में कह सकता हूँ कि मैंने उसे अन्त से लिखना आरम्भ किया, क्योंकि चाहकर भी मैं उसके अन्त को न बदल सका। अपने प्रयोगों को 'स्वप्नमयी' सिद्ध होता देखें, यही मैं चाहता था और यही हुआ भी। लेकिन 'तट के बन्धन' में विशिष्ट दृष्टिकोण के होते हुए भी सब पात्रों से उसकी पुष्टि नहीं करा सका। लिखते समय मैं यह सोच भी नहीं सका था कि डाकुओं द्वारा अपहृत नीलम का चरित्र किस तरह विकसित होगा। लेकिन जब वह विकसित होने लगा तो मुझे तनिक भी कठिनाई नहीं हुई और सहज भाव से मैं उस छुईमुई को उत्तरदायित्व [illegible] सुभाष के पास तक ले जा सका। कहूँगा उसने मुझे स्वयं ही वह मार्ग दिखाया। 'निशिकान्त' के सम्बन्ध में भी कहा जा सकता है कि लिखने से पूर्व निशिकान्त की पूर्ण कल्पना मेरे मस्तिष्क में थी, लेकिन कमला के सम्बन्ध में मैंने सोचा भी नहीं था। उसका निर्माण कैसे हो गया यह आज भी नहीं जान पाया हूँ। इसीलिए आप देखेंगे कि 'निशिकान्त' में सहजता नहीं है। सहजता प्राप्त करने के लिए उसे संघर्ष करना पड़ता है। तब कहीं जाकर वह मुक्त होता है। इसके विपरीत कमला कभी कुछ सोचती ही नहीं। हर बाधा को वह सहज

भाव से पार कर जाती है और मेरी आशा के विपरीत निशिकान्त की आता बन जाती है।"

विष्णु प्रभाकर ने स्वयं ही अपने उपन्यासों की चर्चा छेड़ दी तो मैंने भी उसे आगे बढ़ाते हुए उनके सृजन-क्रम के बारे में पूछ लिया, "कथ्य के विकास की दृष्टि से लगता है कि 'स्वप्नमयी' आपका पहला उपन्यास है और 'तट के बन्धन' दूसरा तथा 'निशिकान्त' तीसरा, पर प्रकाशन क्रम से 'निशिकान्त' पहले आता है, उसके बाद 'तट के बन्धन' और फिर 'स्वप्नमयी'। कृपया बताएँ कि आपके उपन्यासों का लेखन-क्रम वही रहा है जो उनका प्रकाशन-क्रम है या उससे भिन्न?"

वे बोले, "लेखन-क्रम की दृष्टि से 'निशिकान्त' निश्चय ही पहला है। 'स्वप्नमयी' यद्यपि 'तट के बन्धन' से लगभग एक वर्ष बाद छपा, परन्तु लिखा वह उससे पहले गया। उस रूप में नहीं, एक कहानी के रूप में। लेकिन मूल कथ्य की दृष्टि से छोटी कहानी और इस बड़ी कहानी में कोई अन्तर नहीं है। असल में इसे उपन्यास कहना उचित नहीं है। 'तट के बन्धन', 'स्वप्नमयी' के बाद लिखा गया, लेकिन छपा कुछ महीने पहले। आपकी स्थापना का कारण मुझे लगता है, यह है कि 'निशिकान्त' में मैंने जीवन को जैसा वह है वैसा सामने रखा है। किसी दृष्टिकोण या सिद्धान्त की बात नहीं सोची। लेकिन 'स्वप्नमयी' और 'तट के बन्धन' में एक विचार सामने रहा है। 'स्वप्नमयी' में केवल मात्र विचार का ही प्रतिपादन हुआ है, लेकिन 'तट के बन्धन' में पूर्णतः ऐसा नहीं हुआ। मालती के सामने दहेज का प्रश्न है। ललिता और सत्येन्द्र परिवार से आगे बढ़कर देश के लिए जन-जीवन से दूर बीहड़ वनप्रान्त में जाकर रहते हैं। यह भी एक आदर्श ही है। लेकिन जुलेखा और नीलम—एक पाकिस्तान से अपहृत होकर आई है, दूसरी का अपहरण डाकुओं ने किया है—इन दोनों के सामने कोई सिद्धान्त या दृष्टिकोण नहीं है। आदर्श भी नहीं है। है केवल शून्यता। उसका अन्त कहाँ और कैसे होगा यह भी कोई नहीं जानता। लेखक भी नहीं जानता। लेकिन यह 'शून्यता' निकृष्ट जीवन का ही एक रूप है। इसलिए वे दोनों स्वयं ही अपना मार्ग खोज लेती हैं। मैं समझता हूँ, आपकी स्थापना का यही आधार है। मैं स्वयं भी इससे असहमत होने का कोई कारण नहीं देखता हूँ।"

'निशिकान्त' को पढ़ते समय अधिकांश लोगों का ध्यान उसके नायक पर ही गया है और उसी के चरित्र-विकास के आधार पर इस उपन्यास की समीक्षा हुई है। पर मुझे इस रचना की कमला के निर्भीक व्यक्तित्व ने सर्वाधिक आकृष्ट किया है। आकर्षण का मुख्य कारण शायद यह रहा है कि व्यक्तित्व की निर्भीकता और आत्मनिर्भरता उसे अपने स्रष्टा से नहीं मिली है; वह सीधे उसके अपने जीवन से ही उपजी और पनपी है। कमला शरत के उपन्यास 'शेष प्रश्न' की कमल की याद दिलाती है। इसलिए यह जानने की इच्छा स्वाभाविक ही थी कि उसके निर्माण

मे शरत् की नारी-भावना का कहाँ तक योग रहा है। मैंने कहा, "उपन्यासों में आपकी नारी भावना का चरम विकास मुझे 'निर्वासित' की कमला में दीखता है जो स्वप्नमयी न होकर यथार्थ की कठोर भूमि पर टिकी है और तट के बन्धन काट मझधार की उत्ताल तरंगों से लड़ती भिड़ती अपने लिए स्वयं रास्ता बनाती है। उसकी निर्भीकता और अदम्य साहस को देखकर शरत् के 'शेष प्रश्न' की कमल की याद आ जाती है जो नारी की सार्थकता अपने पाँव पर खड़े होने में मानती है और पुरुष की आश्रिता बनकर रहना जीवन का सबसे बड़ा अभिशाप समझती है। अपने नारी पात्रों के निर्माण में आप शरत् की नारी परिकल्पना से कहाँ तक प्रभावित रहे हैं ?"

बिना किसी हेर-फेर के विष्णुजी बोले, "कमला के सम्बन्ध में आपने जो विश्लेषण किया है वह बिल्कुल सही है। लेकिन उसका निर्माण करते समय मेरे सामने कोई चरित्र नहीं था। उपचेतना में रहा हो तो मैं नहीं जानता। शरत् से मैं प्रभावित हुआ हूँ। उसने नारी को पहली बार मनुष्य के पद पर प्रतिष्ठित किया है। लेकिन तत्कालीन अनेक सुधार आन्दोलनों ने नारी की मुक्ति के लिए कम प्रयत्न नहीं किया। गांधी युग के स्वतन्त्रता-संग्राम ने उसे घर से बाहर की कर्म-भूमि में लाकर खड़ा कर दिया था। इन सभी आन्दोलनों की सीमाएँ भी थीं और वे स्वाभाविक थीं। लेकिन धीरे-धीरे व भी टूटती चली गईं। मैंने शरत् को पढ़ा है, आर्य समाज में सक्रिय भाग लिया है और स्वतन्त्रता संग्राम को भी बहुत पास से देखा है। इस सबका परिणाम कमला के चरित्र में प्रगट हुआ है। कमला के चरित्र द्वारा मैंने यह भी स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है कि आर्य समाज ने जहाँ नारी को मुक्ति दी वहाँ उसकी गतिविधियों पर अंकुश भी कम नहीं लगाए, (हर समाज और आन्दोलन लगाता है) । कमला सहज भाव से उन अंकुशों की यातना को सहती है, लेकिन 'स्वप्नमयी' की तरह वह अपना बलिदान नहीं करती, अंकुशों को सहज भाव से लाँघ जाती है। मैंने ऊपर कहीं 'प्रयत्न' शब्द का प्रयोग किया है। लेकिन सच यही है कि कमला स्वयं निर्मित हुई है। मैंने उसका निर्माण नहीं किया। मैं नारी की पूर्ण मुक्ति का समर्थक हूँ। परन्तु यदि आवश्यक हो है तो यह काम भी वह स्वयं ही करे। वस्तुतः 'निर्वासित' और कमला की कहानी अभी अपूर्ण ही है यदि कभी पूर्ण हो सकी तो मेरी कल्पना स्पष्ट हो सकेगी। युग तेजी से बदल रहा है और मैं भी सदा नये के प्रति आग्रहशील नहीं, तो उन्मुक्त अवश्य रहना चाहता हूँ। ई० एम० फोर्स्टर ने कहीं स्वीकार किया है "दुनिया की सामाजिक दृष्टि बदल गई है और मैं पुरानी दुनिया या पुराने जमाने के फैशन, उसके घरों का वातावरण, उसका पारिवारिक जीवन और उसकी तुलनात्मक शान्ति आदि के बारे में लिखने का अभ्यस्त हो चुका हूँ।

"इस स्वीकृति में सत्य है, हममें से बहुत से यही कह सकें तो कितना अच्छा

हो। लेकिन मैं फिर भी कहना चाहता हूँ कि मैं नये को अस्वीकार नहीं करता। मैं उसे परखना चाहता हूँ। मैं अकेला पड़ सकता हूँ लेकिन मैं अपने अकेलेपन के साथ जिन्दा रहना चाहता हूँ।"

कई बार जीवन का यथार्थ साहित्यकार को इतना बाँध देता है कि वह लाख चाहने पर भी उससे मुक्त नहीं हो पाता। लेखक के इस बन्धन का बोध मुझे 'निशिकान्त' में हुआ है। इसलिए मैंने कहा, "'सारिका' के जून १९६५ के अंक में आपकी रचना 'विष्णु प्रभाकर: अपनी निगाह में' पढ़ने के बाद आपके उपन्यास 'निशिकान्त' के नायक में आपका प्रतिबिम्ब स्पष्ट दीखने लगता है। 'निशिकान्त' के निर्माण में आपने प्रयत्न भी काफी किया है। पर मुझे कमला ने अधिक आकृष्ट किया है। 'निशिकान्त' आपके प्रयास का फल है तो आपके भीतर गहरे में पैठी नारी प्रतिमा अवसर पाकर सहज ही कमला के रूप में अभिव्यक्ति पा गई है। कहीं ऐसा तो नहीं कि आपके अपने जीवन के यथार्थों ने 'निशिकान्त' को बाँध दिया हो?"

प्रश्न सुनकर विष्णुजी खिलखिलाकर हँस पड़े और बोले, "क्या आप मुझे आज्ञा देंगे कि इस प्रश्न का उत्तर मैं कानूनी भाषा में दूँ अर्थात् 'मैं अपना अपराध स्वीकार करता हूँ।' अब आप जो दण्ड दें स्वीकार करूँगा।"

[१७-७-१९६५]

०

डा० नगेन्द्र

आलोचना कोरा बुद्धि-विलास नहीं

सर्जक और समालोचक के बीच की खाई निरन्तर बढ़ती जा रही है। यह खाई नितान्त अस्वाभाविक हो, यह बात तो नहीं। पर स्वाभाविक वह उतनी ही कही जा सकती है जितनी रागात्मकता और बौद्धिकता के बीच की दूरी। आज जब साहित्य में बौद्धिकता उत्तरोत्तर बढ़ रही है, सर्जक और आलोचक के बीच का अन्तराल कम हो जाना चाहिए। पर यह अन्तराल कम तो हुआ नहीं, उलटा बढ़ता ही जा रहा है और अब स्थिति यहाँ तक पहुँच गई है कि आलोचक सर्जक के निर्देशन का दम्भ भरने लगा है और सर्जक इतना अधिक संवेदनशील हो गया है कि प्रशस्ति के अतिरिक्त और कुछ सुनने को तैयार ही नहीं। इससे दोनों का तो अहित हुआ ही है, पर इससे भी अधिक हानि पहुँची है साहित्य को।

सर्जक और आलोचक के इस बढ़ते हुए अन्तराल के कई कारण हो सकते हैं, इसका मूल कारण है—सृजन और आलोचन को दो अलग और परस्पर विरोधी प्रवृत्तियाँ मान लेने का भ्रम। इस मिथ्या धारणा के विरोध में कभी-कभी तो आवाज़ सुनाई पड़ जाती है, पर अब तक इस भ्रम का जो पूर्ण निराकरण नहीं हो सका है उसका कारण यह भी है कि सृजन प्रक्रिया को जानने-समझने के जितने व्यवस्थित और गम्भीर प्रयत्न हुए हैं, आलोचन-प्रक्रिया उतनी ही उपेक्षित रही है। बल्कि कुछ लोगों को तो इसमें भी सन्देह हो सकता है कि क्या आलोचना की भी कोई प्रक्रिया होती है। हमारा विश्वास है कि आलोचन-प्रक्रिया के सम्यक् और सन्तुलित विश्लेषण से यह बात उभर कर सामने आ जाएगी कि सर्जन और आलोचन में न केवल अविरोध है, बल्कि दोनों एक दूसरे के पूरक भी हैं।

समालोचन प्रक्रिया के सम्यक् विवेचन विश्लेषण की बात उठते ही हिन्दी के समर्थ चिन्तक और शीर्षस्थ समालोचक डा० नगेन्द्र की ओर ध्यान जाना स्वाभाविक है। डा० नगेन्द्र में सर्जन और आलोचन का आश्चर्यजनक समन्वय मिलता है। इनके साहित्यिक जीवन का आरम्भ एक कवि के रूप में हुआ और उसकी सहज परिणति एक प्रखर आलोचक में हो गई। सन् '२७-'३८ का मुक्त कवि आज मूर्धन्य चिन्तक, मूलग्राही समालोचक और सफल अध्यापक के रूप में हिन्दी की श्रीवृद्धि में योग दे रहा है। 'भारतीय काव्य-शास्त्र की भूमिका,' 'रीति-काव्य

की भूमिका,' 'आधुनिक हिन्दी-कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ'-जैसी अनेक विशद एवं मर्मस्पर्शी शास्त्रीय विवेचनाओं; 'देव और उनकी कविता,' 'साकेत : एक अध्ययन'-सरीखी मूलग्राही साहित्य-समीक्षाओं; 'विचार और अनुभूति', 'विचार और विवेचन,' 'विचार और विश्लेषण' आदि आलोचनात्मक निबन्धों के प्रणयन तथा 'हिन्दी-वक्रोक्तिजीवित,' 'हिन्दी-साहित्य का बृहत् इतिहास: भाग-६' आदि अमूल्य ग्रन्थों के सम्पादन द्वारा डा० नगेन्द्र हिन्दी-साहित्य को समृद्ध कर रहे है। 'रस-सिद्धान्त' उनका नवीतम ग्रन्थ है जो उनकी ही नही हिन्दी-साहित्य की भी अनुपम उपलब्धि है। डा० नगेन्द्र की लेखनी रुकने का नाम नही लेती। आए साल उनकी तीन-चार नई पुस्तकें निकल आती हैं।"

सोचा डा० नगेन्द्र से मिलकर उनकी आलोचन-प्रक्रिया और तत्सम्बन्धी विविध समस्याओं पर चर्चा की जाए। फोन पर अपनी इच्छा व्यक्ति की तो आप सहर्ष मान गए, पर साथ ही यह भी कह दिया कि आजकल बहुत व्यस्त हूँ, थोड़ा स्वस्थ हो लूँ तो जमकर चर्चा होगी। पर उनकी व्यस्तताएँ रुकने का नाम लें तब तो। इस बीच कई महीने निकल गए। आखिर एक दिन फोन पर सूचना मिली कि मैं अगले दिन उनसे मिल सकता हूँ। अगले दिन मैं उनके यहाँ पहुँचा तो डा० नगेन्द्र को चर्चा के लिए तैयार पाया। मैने बैठते ही कहा, "आखिर घेर ही लिया न आपको।" डा० नगेन्द्र मुस्कराते हुए बोले, "मुझे क्षमा कीजिए, आपको बहुत प्रतीक्षा करनी पड़ी। मैं बहुधंधी आदमी हूँ। अनेक प्रकार के कार्यों में व्यस्त होने के कारण मन को एकाग्र करना मेरे लिए कठिन था। आप चाहते हैं मेरे अन्तर्बाह्य को टटोलना। इसके लिए मन की स्वस्थता जरूरी है और सावधानी भी।"

डेजरायली ने एक स्थान पर कहा है कि समालोचक वे व्यक्ति होते है जो साहित्य और कला में असफल रहे हों। डेजरायली ही क्यों लगभग सभी सर्जकों को आलोचक के विषय में यह मान लेना अच्छा लगता है और जब वे किसी आलोचक की प्रतिकूल राय की अवमानना करते हैं तो उसकी तह में यही भाव काम कर रहा होता है। पर डा० नगेन्द्र इसके स्पष्ट अपवाद है। इसलिए, विषय की भूमिका बाँधते हुए मैंने पूछा, "साहित्य-सर्जन और साहित्यालोचन को कई लोग दो अलग और परस्पर विरोधी प्रवृत्तियाँ मानते है पर आपके साहित्यिक जीवन का आरम्भ एक सफल कवि के रूप में हुआ और उसकी सहज परिणति एक प्रखर एवं सिद्ध आलोचक में हो गई। रागात्मक और बौद्धिक तत्वों का यह अपूर्व समन्वय आपमें कैसे सम्भव हुआ ?"

प्रश्न का स्वागत करते हुए डा० नगेन्द्र बोले, "आपका प्रश्न वास्तव में बड़ा सार्थक है। इसके उत्तर में मैं अपनी आलोचन-प्रक्रिया का काफी सही विश्लेषण कर सकूँगा। साहित्य-सर्जन और साहित्यालोचन दोनों की मूल प्रवृत्ति और चरम

परिणति में भेद हो सकता है, परन्तु ये दोनों परस्पर विरोधी धर्म नहीं हैं। दोनों ही आत्माभिव्यक्ति से प्रेरणा प्राप्त करते हैं। साहित्य-सृजन का प्रमुख माध्यम राग और गौण माध्यम बुद्धि है जबकि साहित्यालोचन में यह क्रम उलट जाता है। वहाँ बुद्धि तत्त्व प्रमुख और रागतत्त्व गौण हो जाता है। साहित्य सृजन और साहित्यालोचन दोनों का आधार है साहित्य, और साहित्य का आधार है राग तत्त्व। अतः रागतत्त्व मूलाधार के रूप में दोनों में व्याप्त रहता है जो इन्हें परस्पर विरोधी होने से बचाता है। मेरे जीवन में तो इनका और भी अविरोध रहा है। काव्य-रचना के प्रति रुचि उत्पन्न होने ही काव्य के अध्ययन के प्रति अनायास ही अनुराग उत्पन्न हो गया और काव्य का गम्भीर अध्ययन आलोचना के बिना संभव नहीं था। इस प्रकार, काव्य की रचना से काव्य के अध्ययन और अध्ययन से आलोचना की ओर क्रमशः प्रवृत्ति होती गई।

"अपने साहित्यिक जीवन के आरम्भ में मेरा किशोर मन वस्तियत प्रायः ही था, और अपनी वे रोमानी कृतियाँ मुझे आज भी अत्यन्त प्रिय हैं। आरम्भ से ही न जाने क्यों, कदाचित् अनिर्दिष्ट शिक्षा-दीक्षा की प्रतिक्रिया रूप में, मेरी प्रवृत्ति आनन्दवादी मूल्यों की ओर ही अधिक रही है। जिस समय मेरे साहित्यिक व्यक्तित्व का निर्माण हो रहा था, अर्थात् सन् १९३२-३३ से लेकर '३६-'३७ तक मेरी चेतना पर छायावाद और उधर अंग्रेजी की रोमानी कविता का भरपूर प्रभाव पड़ा। सन् '४२-'४३ में जब मैंने रीतिकाव्य के संदर्भ में देव पर अनुसंधान किया तो रीतिकाव्य और उसके प्रेरक रससिद्धान्त से घनिष्ठ परिचय हुआ, जिसके फलस्वरूप आनन्दवादी मूल्यों के प्रति मेरा आरंभिक आकर्षण आस्था में परिणत हो गया। कुछ दिनों तक यह आग्रह इतना प्रबल था कि साहित्य में नैतिक मूल्यों की स्वीकृति मुझे एक प्रकार से असह्य प्रतीत होती थी। इसी आग्रह का यह परिणाम था कि मेरी कुछ कविताओं में नैतिक मूल्यों का विरोध अत्यधिक मुखर हो गया है। आज प्रौढ़ता के साथ-साथ जीवन दृष्टि अधिक स्थिर और संतुलित हो गई है और अध्यापन-कर्म की गरिमा इस प्रकार की मुखरता के साथ समझौता नहीं कर पाती। फिर भी अपनी वे कविताएँ मुझे प्रिय हैं। इन कविताओं की प्रेरक अनुभूति ने ही मेरे रसवाद को पुष्ट किया है। व्यावहारिक आलोचना में रसमय संवेदनों को ग्रहण करने और सैद्धान्तिक आलोचना में सिद्धान्त को प्राणों की ऊष्मा से समृद्ध करने की क्षमता कदाचित् इन्हीं से प्राप्त हुई है।

"आलोचना केवल बुद्धि का विलास है, यह धारणा ठीक नहीं। जो आलोचना केवल बुद्धि के ऊहापोह पर जीवित रहती है, वह पाठक के मर्म का स्पर्श नहीं कर पाती। अनुभूति का बल न होने से उसमें प्रत्यय उत्पन्न करने की क्षमता नहीं होती। जो आलोचक स्वानुभूति के आधार पर आलोच्य विषय का विश्लेषण और सिद्धान्त प्रतिपादन नहीं करता, जिसके विचार अनुभूत नहीं होते और जो अनु-

भूति का विवेचन करने में असमर्थ है, उसकी आलोचना बुद्धि से टकराकर रह जाती है, मन को नहीं छू पाती। इस प्रकार साहित्य-सर्जन और साहित्यलोचन में परस्पर विरोध नहीं है; मुझे इनका समन्वय करने की आवश्यकता कभी नहीं हुई।"

मेरे पहले ही प्रश्न के उत्तर में डा० नगेन्द्र ने गहराई में उतर कर अपनी आलोचन-प्रक्रिया को मथ डाला। बोलते समय उनके होंठ धीरे-धीरे हिल रहे थे और वे एक-एक शब्द ऐसे निकाल रहे थे जैसे कोई जौहरी अपने रत्नों का मूल्य पहचानते हुए प्रत्येक को तौल-तौल कर दे रहा हो—वे शब्द-जौहरी जो ठहरे। एक वाक्य के समाप्त होने पर और दूसरे के आरम्भ होने से पहले की उनकी बेचैन मुद्राएँ उनके भीतर चल रहे गहन विचार-मन्थन और सत्य की शोध के प्रति उनकी असीम निष्ठा को व्यक्त कर रही थी।

विषय को आगे बढ़ाते हुए मैंने पूछा, "आपके आलोचक के निर्माण में किन-किन तत्वों और व्यक्तित्वों का विशेष हाथ रहा? किस आलोचक ने आपको सर्वाधिक प्रभावित किया और क्यों?" वे बोले, "इस प्रश्न का उत्तर में अधिक विश्वासपूर्वक नहीं दे सकता क्योंकि इसमें अनुमान का काफी सहारा लेना पड़ेगा। सम्भव है पूर्व-प्रेक्षण से कुछ सहायता मिले। आरम्भ से ही मुझमें राग-तत्त्व की प्रबलता रही है। जब मैं कालिज में पढ़ता था तो मेरी किशोर भावनाएँ अनायास ही कविता के प्रति उन्मुख होने लगीं—कविता सुनने और पढ़ने में तो सुख मिलता ही था, कविता लिखने में और भी अधिक सुख मिलने लगा, क्योंकि उसमें आत्माभिव्यक्ति का रस भी मिल जाता था जो मेरे लिए नया था। सेंट जॉन्स कालिज के सुरुचिपूर्ण वातावरण में साहित्य-साधना के लिए अच्छा सुयोग प्राप्त हुआ। हिन्दी, संस्कृत और अंग्रेज़ी कविता के साथ मेरा घनिष्ठ परिचय हुआ। बी० ए० के पहले साल तक पहुँचते-पहुँचते मैं हिन्दी के प्रायः सभी प्रसिद्ध कवियों का अध्ययन कर चुका था और उधर अंग्रेज़ी की रोमानी कविता से भी अच्छा सम्पर्क हो गया था। कविता के साथ कविता की विवेचना भी अच्छी लगती थी और हिन्दी तथा अंग्रेज़ी के अनेक आलोचना-ग्रन्थों का मनन भी मैं साथ-साथ करता जा रहा था। जब मैं बी० ए० में था, तभी मैंने हिन्दी के लब्धख्याति विद्वान् बाबू गुलाबराय के सहयोग से हिन्दी के सात सर्वश्रेष्ठ आधुनिक कवियों पर विस्तृत आलोचनात्मक निबंध लिखने की योजना बनाई थी, ये सात कवि थे 'रत्नाकर', 'हरिऔध', मैथिलीशरण गुप्त, 'प्रसाद', 'निराला', पंत तथा महादेवी, और गुप्तजी एवं महादेवी पर लेख हम लिख भी चुके थे। गुप्तजी के परवर्ती काव्य 'साकेत' से मैं अत्यधिक प्रभावित था, किन्तु उनकी आरंभिक राष्ट्रीय-नीतिपरक रचनाएँ मुझे अच्छी नहीं लगती थीं। उनकी समीक्षा करने में मेरा स्वर जब कभी-कभी उग्र हो उठता था तो बाबू जी को उसे संयत एवं संतुलित [illegible]

बाबूजी ने कहा था 'अगर मैं बीच-बीच में न टोकता तो 'भारत भारती' तुम्हारे गले नहीं उतरती।'

'इसके बाद परीक्षा के भार जाल में यह प्रवृत्ति वहीं रुक गई और फिर आगे भी २-३ वर्ष तक मैं काव्य रचना में ही लीन रहा। सन् १९३६ में मैंने अंग्रेजी का एम० ए० किया और '३७ में हिन्दी का। हिन्दी एम० ए० की तैयारी करते समय आधुनिक कवियों पर उपयुक्त ग्रन्थों के अभाव में मुझे अपने आप विवेचनात्मक टिप्पणियाँ तैयार करनी पड़ीं। इसी सदर्भ में पन्त के काव्य पर कुछ टिप्पणियाँ लिखी जिन्हें एम० ए० हिन्दी की परीक्षा समाप्त होने के बाद लेख रूप में आबद्ध कर मैंने आगरा की एक गोष्ठी में पढ़ा। इस गोष्ठी का आयोजन सेंट जॉन्स कालेज के अंग्रेजी प्राध्यापक प्रो० प्रकाशचन्द्र गुप्त के तत्त्वावधान में किया गया था। आलोचना के क्षेत्र में यह मेरा पहला नियमित प्रयास था। इसकी आगरा के साहित्यिक वृत्त में अच्छी चर्चा हुई और आगे चलकर यही मेरी पहली पुस्तक 'सुमित्रानन्दन पन्त' के प्रणयन का आधार बना। मेरे आलोचक-जीवन के प्रारम्भ का यही संक्षिप्त इतिहास है।"

'मेरे आलोचक का निर्माण किन तत्त्वों से हुआ है और किन आलोचकों ने मुझे प्रभावित किया है, इसका उल्लेख मैं डा० पद्मसिंह शर्मा कमलेश के साथ एक 'इंटरव्यू' में तथा अन्य कुछ प्रसंगों में कर चुका हूँ और अब उसकी आवृत्ति अनावश्यक है। संक्षेप में मैं यही कह सकता हूँ कि मैंने आलोचक-वृत्ति को पूरी निष्ठा के साथ स्वीकार किया है और स्वदेश विदेश के प्रायः सभी मान्य आचार्यों का विधिवत् तथा प्रायः सर्वांग अध्ययन किया है। इनमें से कुछ के सिद्धान्त और विवेचन-पद्धति मुझे अनुकूल प्रतीत हुए हैं और कुछ के नहीं। मेरा यह गुण कहिए या दुर्गुण, आरम्भ से ही व्यक्ति, घटना और साहित्य सभी के प्रति मेरी प्रतिक्रिया बड़ी स्पष्ट और प्रायः तीव्र होती है। शिक्षा-दीक्षा के फलस्वरूप आज मुझे अपनी प्रतिक्रियाओं का संयम-संस्कार करने का अभ्यास हो गया है। किन्तु मेरे दृष्टिकोण का आधार मेरी अपनी प्रतिक्रिया ही रही है और रहती है। धर्म के चार लक्षण कहे गए हैं—आत्मन प्रिय, सदाचार, स्मृति और वेद। इनमें वास्तव में 'आत्मन प्रिय' ही प्रमुख है—स्मृति, सदाचार और वेद अर्थात् नैतिक, सामाजिक और दार्शनिक मूल्यों की सार्थकता आत्मा की प्रीति और प्रतीति के भरण-पोषण में ही है। प्रत्येक धर्म और विचार में विश्वास का बल इसी आत्मप्रीति से आता है। मेरी आलोचना को, जितना भी थोड़ा-बहुत उसका मूल्य है, आत्मा की इसी प्रीति और प्रतीति से शक्ति प्राप्त होती रही है। रस सिद्धान्त में मेरे बद्धमूल विश्वास का यही कारण है। विश्व के अनेक मनीषियों के विचारों से—स्वदेश में आचार्य *शुक्ल, भट्टनायक, अभिनवगुप्त, जयशंकर 'प्रसाद' आदि और विदेश में अनेक विचा*रकों के आनन्दवादी सिद्धान्तों से—मेरी धारणा को प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष पोषण

मिलता रहा है। पहले मुझे नैतिक मूल्यों के प्रति एक प्रकार की विरक्ति थी, क्योंकि मुझे वे आनंदवादी मूल्यों के प्रतिकूल लगते थे। किन्तु आज ऐसा नहीं है। आनंद और मंगल में न केवल विरोध ही नहीं है, वरन् अभिन्न सम्बन्ध भी है। भारतीय रसशास्त्र इसी सम्बन्ध पर आवृत है। इस सिद्धान्त की उपलब्धि में मुझ-पर किन विचारकों का प्रभाव रहा है इसका मैं अनुमान भर ही कर सकता हूँ।"

"प्रभाव के विषय में एक और अन्तरंग तथ्य मैं यहाँ स्वीकार कर लूँ। आरम्भ से ही प्रायः मेरे मन में उन आलोचकों के प्रति जिन्होंने मुझे प्रभावित किया, एक विचित्र स्पर्द्धा का भाव भी रहा है। जिनकी बात मेरे मन में नहीं जमती या जिनके सिद्धान्त अथवा शैली मुझे प्रभावित नहीं करते, उनकी मैं सहज उपेक्षा कर जाता हूँ। किन्तु जो मुझे प्रभावित करते हैं—जिनकी गरिमा मेरे मन को आन्दोलित करती है—उनसे फिर मैं जूझने लगता हूँ। अत्यन्त गहन अध्ययन, चिन्तन और विश्लेषण तो पहला कदम होता है। इसके बाद उनके ग्राह्य विचारों का आख्यान, अग्राह्य विचारों का युक्तियुक्त खण्डन, असंगतियों (अथवा मुझे प्रतीत होने वाली असंगतियों) में संगति-स्थापना, उनकी सीमाओं का विस्तार और समग्रतः उनकी परम्पराओं का विकास करने की स्पृहा मेरे मन में बराबर बनी रहती है। इस प्रकार, मैं अनेक महान प्रतिभाओं की बड़ी शक्ति के साथ अपनी छोटी शक्ति को तोलता रहता हूँ। जिस व्यक्ति ने मुझे सबसे अधिक प्रभावित किया है उसके साथ शक्ति-परीक्षा भी मैंने सबसे अधिक की है। आचार्य शुक्ल इसका प्रमाण है। मैं जानता हूँ कि यह स्वीकारोक्ति अहंकार से मुक्त नहीं है और थोड़े से शील एवं विनय के शब्दों में मैं इसे लपेट भी सकता था। किन्तु आप तो मेरा साक्षात्कार करने आए हैं, आपके साथ कपट नहीं करूँगा।"

डा० नगेन्द्र रसवादी-परम्परा के आलोचक हैं। रस-सिद्धान्त में उनकी आस्था इतनी गहरी है कि वे रससिद्धान्त को ही अन्तिम सिद्धान्त मानते हैं। इसलिए, रससिद्धान्त पर चर्चा चलाने की दृष्टि से मैंने पूछा, "एक स्थान पर आपने कहा है कि 'मैं काव्य में रस-सिद्धान्त को अन्तिम सिद्धान्त मानता हूँ। उसके बाहर न काव्य की गति है और न ही सार्थकता', पर एक दूसरी जगह आपने यह भी कहा है कि 'नित्य धर्म साहित्यकार का एक ही है। वह है शब्द-अर्थ के माध्यम से आत्मसाक्षात्कार का सुख या आत्मास्वाद का भोग—आधुनिक शब्दावली में अपने सम्पूर्ण व्यक्तित्व की आनन्दमयी अभिव्यक्ति।' क्या आत्मसाक्षात्कार के लिए भी आप रस-निष्पत्ति को अनिवार्य शर्त मानते हैं?"

एकदम गम्भीर होते हुए डा० नगेन्द्र बोले, "मेरे लिए दोनों वाक्य एक ही अर्थ की दो अभिव्यक्तियाँ हैं। आनंद का अर्थ आत्मास्वाद ही है। जब मैं किसी पदार्थ का आनन्द लेता हूँ तो उस पदार्थ का भोग करनेवाली इन्द्रिय के माध्यम से मैं अपनी आत्मा का ही उपभोग करता हूँ। 'कामायनी' में जड़ के चेतन उपभोग

की प्रमाद ने यही व्याख्या की है। शब्द-अर्थ में चित्त अन्य भौतिक पदार्थों की अपेक्षा अत्यन्त अधिक है। इसलिए उसका सम्बन्ध आत्मतत्त्व से अधिक प्रत्यक्ष है। 'सहित शब्द अर्थ' के माध्यम से आत्मसाक्षात्कार ही सहृदयगत रस है और आत्माभिव्यक्ति ही कविगत रस है। तत्त्व रूप में साक्षात्कार, अभिव्यक्ति और आस्वाद में भेद नहीं है। इसलिए, कवि और प्रमाता के रस में भी भेद नहीं है। इस प्रकार, रस सिद्धान्त शब्द अर्थ के माध्यम से आत्मसाक्षात्कार का ही सिद्धान्त है।"

चर्चा को काव्य से कथासाहित्य की ओर मोड़ते हुए मैंने प्रश्न किया, "आपकी आलोचना-कृतियाँ अधिकांशत: काव्य और काव्य सिद्धान्तों का ही विवेचन-विश्लेषण करती हैं, पर अज्ञेय के 'शेखर : एक जीवनी' और जैनेन्द्र के 'त्यागपत्र' पर आपकी तलस्पर्शी समीक्षाएँ इस बात का प्रमाण हैं कि उपन्यास और कहानी की आत्मा में भी आप उसी गहराई तक पैठ सकते हैं जिस गहराई तक काव्य में। तो फिर, कथा-साहित्य के प्रति आपके उपेक्षाभाव का क्या कारण समझा जाए ?"

डा० नगेन्द्र मुस्कराते हुए बोले, "इस प्रश्न में आपने मेरे स्वभाव की कमज़ोरी पकड़ ली है, और यह कमज़ोरी है एकोन्मुखी प्रवृत्ति। जैसा कि मैं पहले संकेत कर चुका हूँ, आरम्भ में ही मेरी प्रवृत्ति कविता की ओर हो गई थी। मेरे किशोरकाल में उपन्यास और कहानी का बड़ा ज़ोर था। मेरे एक समवयस्क को, जो परिवार सम्बन्ध से मेरा भाई और वृत्ति एवं प्रवृत्ति से मेरा मित्र था, उपन्यास-कहानी पढ़ने का बड़ा शौक था। कभी-कभी वह मेरे पास बैठकर घंटों उपन्यास-कहानी पढ़ता रहता था। किन्तु उसकी रसविगलित मुद्राओं को देखकर भी मेरी उधर प्रवृत्ति नहीं होती थी। उस समय की यह बुरी आदत अब तक बनी हुई है। उपन्यास के आकार से आज भी मेरा मन इतना आतंकित है कि प्राय: प्रयत्न करने पर भी साहस नहीं होता। वैसे आकार से मुझे भय नहीं है, किन्तु कविता के सान्द्र रस का अभ्यस्त मेरा मन उपन्यास के वर्णन विस्तार से घबरा उठता है और प्रासंगिक विवरणों को छोड़कर मूल रस बिन्दु का अविलम्ब अनुसंधान करने के लिए अधीर हो जाता है। विवरण मेरे मन को लीन नहीं कर पाता—चाहे वह घटना का हो या वातावरण का। हाँ, विवेचन-विश्लेषण का अभ्यासी हो जाने के कारण, जहाँ इस प्रकार के प्रसंग आ जाते हैं वहाँ मन रमने लगता है। वास्तव में, मेरे मन को दो प्रकार के रस का अभ्यास अधिक हो गया है। एक तो काव्य का केन्द्रीभूत रस और दूसरा विवेचन विश्लेषण का बौद्धिक रस—(यहाँ आप 'आनंद' शब्द का प्रयोग कर लें तो अच्छा है क्योंकि 'रस' शब्द से भ्रान्ति उत्पन्न हो सकती है)। इसलिए, ऐसे उपन्यास तो मैं पढ़ जाता हूँ जिनमें एक ओर कवित्व हो और दूसरी ओर सूक्ष्म-गम्भीर मनोवैज्ञानिक विश्लेषण। दूसरी तरह के उपन्यास पढ़ने में मुझे बाधा होती है। इसे मैं स्वभाव की कमज़ोरी ही मानता हूँ, क्योंकि आज

साहित्य के क्षेत्र में उपन्यास ही सबसे प्रबल और महत्त्वपूर्ण विधा है। इसका पूर्ण उपयोग मैं अपने स्वभाव-संस्कार के कारण नहीं कर पाया।

"रही किसी उपन्यास-विशेष की सफल आलोचना की बात, तो उसमें क्या अन्तर पड़ता है? रस के साहित्य के मूल तत्त्व तो समान ही हैं। उसकी सृजन-प्रक्रिया और आस्वाद-प्रक्रिया में कोई मौलिक एवं तात्त्विक भेद है, ऐसा मैं नहीं मानता हूँ। अतः जो 'उन्मुक्त' और 'उर्वशी' का विवेचन कर सकता है वह 'शेखर,' 'त्यागपत्र' और 'नारी' की भी आलोचना कर सकता है।"

डा० नगेन्द्र अपनी निर्भीकता और स्पष्टवादिता के लिए प्रसिद्ध है। वे जैसा महसूस करते हैं, वैसा ही कह देते हैं। 'सत्यं ब्रूयात्' को तो वे मानते हैं पर 'प्रियं ब्रूयात्' के चक्कर में नहीं पड़ते। आलोचक के लिए यह प्रवृत्ति वरदान होती है तो कभी अभिशाप भी बन सकती है, यह सोचते हुए मैंने पूछा, "मैं आरम्भ से ही आपकी विश्लेषण-प्रतिभा का कायल रहा हूँ और अपने निष्कर्षों को आप जिस निर्भीकता से व्यक्त करते हैं उसे अपने लिए आदर्श मानता हूँ। ये दोनों प्रवृत्तियाँ आलोचक को निखारती हैं तो उसे मुसीबत में भी डाल सकती हैं। क्या आपको भी स्पष्टोक्ति के कारण कभी कोई कटु अनुभव प्राप्त हुआ?"

वे बोले, "स्पष्टता दो प्रकार की होती है: एक अर्थ की दूसरी वाणी की। अर्थ की स्पष्टता तो प्रत्येक स्थिति में काम्य है ही, क्योंकि जबतक विचार सुलझता नहीं तब तक मन को शांति नहीं मिलती। चिन्तनशील व्यक्ति के लिए विचार की स्पष्टता एक प्रकार की मनोवैज्ञानिक आवश्यकता है। जिनमें सूक्ष्म चिन्तन की क्षमता ही नहीं है, उनके विचारों में तो स्पष्टता ही स्पष्टता है, किन्तु जो तत्त्व को उपलब्ध कर लेते हैं, उनके विचारों में भी पारदर्शी स्वच्छता आ जाती है। समस्या खड़ी होती है मध्यम स्थिति के व्यक्ति के लिए—जिसकी विचारशक्ति न एकदम बहिर्मुखी और सतही है और न पारदर्शी। हम लोग सामान्यतः इसी श्रेणी में आते हैं। इसलिए, विचार की स्पष्टता हमारे लिए सर्वथा काम्य बन जाती है। उसके बिना जैसे मन में उलझन और घुमड़न-सी रहती है। कहने की आवश्यकता नहीं कि मैं इस घुमड़न और उलझन से मुक्त होने का निरन्तर प्रयास करता रहता हूँ। चित्त का वैशद्य ही शान्ति है। इसी वैशद्य के लिए मैं विचार की स्पष्टता की साधना करता रहा हूँ और इस साधना में मेरा अध्यापन-कर्म सबसे अधिक सहायक हुआ है। दूसरों के विचारों को स्पष्ट करते-करते अपनी विचार-धारा भी विशद बन जाती है। स्पष्टता अध्यापन-कर्म का पहला आधार तत्त्व है—अध्यापक की गलती तो कुछ समय के लिए छिप भी सकती है, किन्तु अस्पष्टता तो तत्काल ही पकड़ी जाती है। मेरे विचारों में आपको जो वैशद्य तथा स्पष्टता मिली है उसका कुछ न कुछ श्रेय मेरे व्यवसाय को भी है।

"विचार की स्पष्टता की अपेक्षा वाणी की स्पष्टता शायद अधिक दुस्साध्य

क्योंकि विचार अमूर्त है और वाणी शब्द मूर्त। इसलिए विचार पर बन्धन नहीं हो सकता, वाणी पर हो सकता है और होता है—

जुबां को बन्द करो या मुझे असीर करो।
मेरे ख्याल को बेड़ी पिन्हा नहीं सकते॥

यहाँ कवि ने विचार की अपेक्षा वाणी को अधिक परतन्त्र माना है और वास्तव में वह है भी। वाणी की स्पष्टता के भी दो अर्थ हैं। एक तो बात को बिना घुमाव-फिराव और उलझाव के कहना और दूसरे बिना लाग-लपेट के। पहला गुण स्पष्ट विचार और लेखन के अभ्यास से प्राप्त हो जाता है, किन्तु दूसरा गुण स्वभाव और चरित्र पर आश्रित है। स्पष्ट कथन के लिए एक ओर जहाँ इस बात की आवश्यकता है कि वक्ता के मन में किसी प्रकार का डर और लिहाज न हो वहाँ दूसरी ओर स्पष्टता का भय प्रभद्रता भी नहीं होना चाहिए। साहित्य के क्षेत्र में अति श्रद्धालु की अपेक्षा दुमुख आलोचक का निभाव कम है। फिर भी सत्य तो सत्य ही है। मीठे वचनों का हिरण्मय पात्र सत्य के मुख को कब तक ढँके रख सकता है? सत्य की खोज करने वाले को अपनी बात साफ साफ कहनी ही होगी। यदि आपको अपनी धारणा और विचारों के प्रति विश्वास है तो उनकी निश्छल अभिव्यक्ति के बिना कोई त्राण नहीं है। इसी तर्क से, मेरे लिए स्पष्ट कथन उतना ही अनिवार्य हो जाता है जितना स्पष्ट चिन्तन। यदि आप मुझे स्पष्ट चिंतन का श्रेय देते हैं तो स्पष्ट कथन के गुण दोष से भी मुक्त नहीं कर सकते।

"मैंने अपनी बात को पूरी ईमानदारी और तर्क के साथ आपके सामने रख दिया है पर शायद आप कुछ व्यक्तिगत प्रसंगों के द्वारा इसके पोषण की वांछा करते हैं। आप यह जानना चाहते हैं कि मेरी इस प्रवृत्ति का मेरे व्यक्तिगत स्नेह-सम्बन्धों पर क्या प्रभाव पड़ा है। इसका उत्तर यह है कि कुल मिलाकर मुझे इसके लिए दाद ही मिली है, पश्चात्ताप का कोई विशेष अवसर नहीं आया। कुछ समय के लिए एकाध बार किसी स्नेहीजन की प्रतिक्रिया अप्रिय भी हुई है किन्तु अन्तत प्रभाव अच्छा ही रहा है। अप्रिय सत्य सुनना बुरा लगता है, परन्तु असत्य की प्रवंचना तो उससे कहीं अधिक दुखदायी होती है। इसलिए, समझदार आदमी धोखा खाने की अपेक्षा अप्रिय सत्य सुनना ज्यादा पसन्द करता है। मेरे स्नेह-सम्बन्धों में—साहित्य क्षेत्र में और साहित्य के बाहर भी—धर्मसंकट प्राय खड़े होते रहे हैं परन्तु मैं आपको मन की बात बताता हूँ, स्पष्ट उक्ति के बिना मुझे कभी शान्ति नहीं मिली। गलत बात करने से अपने मन को ग्लानि होती है, मौन रहने से काम नहीं चलता और बात को छिपाना बहुत देर तक सम्भव नहीं होता। इसलिए, स्पष्ट कथन को मैंने सिद्धान्त और नीति दोनों के रूप में स्वीकार कर लिया है। जहाँ कहीं इसका निर्वाह नहीं हो पाता वहाँ कोई बहुत बड़ा कारण होता है जो मेरी चारित्रिक शक्ति से भारी पड़ता है। उदाहरण के लिए, श्रोता के

प्रति अत्यधिक श्रद्धा, या कभी-कभी स्वार्थजन्य भय भी (आखिर दुनियादार आदमी हूँ, स्वार्थ से परे कैसे जा सकता हूँ ?) अथवा अति स्नेह—इतना अधिक स्नेह कि जो वस्तुस्थिति को जानते पर भी श्रोता के प्रति मोह या दया के कारण स्पष्ट कथन को बचा जाता है। किन्तु धीरे-धीरे (इसी स्पष्ट कथन के दुर्गुण के फलस्वरूप) ये अपवाद भी अब इतने प्रकट हो गए हैं कि अन्तरंग व्यक्ति प्राय: स्थिति को समझ जाते हैं और मुझे लगता है कि अब मेरी इस प्रवृत्ति को निरपवाद ही होना पड़ेगा। साध्य का शुद्ध होना ही पर्याप्त नहीं है, साधन भी शुद्ध होने चाहिए।

"साहित्य के परिवेश में धर्मसंकट न इतने अधिक होते है और न विषम ही। वहाँ अपनी बात को साफ-साफ कहने में कम बाधा पड़ती है और अन्ततः सद्भाव की ही विजय होती है। आपके सामने दो-एक उदाहरण रखता हूँ—मेरे इस लम्बे व्याख्यान की अपेक्षा शायद वे आपको ज्यादा पसन्द आएँगे।

"पिछले कई वर्षों से मुझे गुप्त-बन्धुओं (राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त और कविवर सियारामशरण गुप्त) के परिवार-भुक्त होने का सौभाग्य मिला है। दोनों के साहित्य का अनन्य प्रेमी होने के साथ ही छायावादी काव्य 'कामायनी', 'राम की शक्ति पूजा' जैसी कृतियों के प्रति मेरे मन में प्रबल पक्षपात है। 'कामायनी' हमारे विवाद का प्रायः प्रमुख विषय बन जाता है। उसके गौरव के प्रति मुझे जितना प्रबल आग्रह है उतना ही गुप्त बन्धुओं को उसके प्रति संदेह है। दद्दा तो गम्भीर विवाद में कम पड़ते है। वे हँसकर अपना मंतव्य व्यक्त करने के बाद चुप हो जाते है परन्तु श्रद्धेय सियारामशरण गुप्त तो सत्याग्रही ठहरे। उनसे कई बार गहरी बहस होती है जिसमें 'कामायनी' के साथ उनकी और दद्दा की रचनाओं की तुलना के प्रसंग भी आ जाते हैं। मेरा आग्रह जितना ईमानदार है उनका सन्देह भी उससे कम सच्चा और निष्कपट नहीं है, क्योंकि कामायनी के गुणों की अपेक्षा उसके दोष अधिक प्रकट हैं। किन्तु फिर भी मेरे सौभाग्य के इन कई वर्षों में हमारा स्नेह-सम्बन्ध जितना पुष्ट हुआ है, कामायनी के प्रति मेरी आस्था भी उतनी ही बढ़ गई है।

"एक मनोरंजक घटना और भी है। कुछ महीने हुए हमारे वहाँ, हिन्दू कालिज में दिनकरजी के नवीन काव्य 'उर्वशी' के विषय में एक संगोष्ठी का आयोजन किया गया। दिनकरजी भी उसमें सादर आमंत्रित थे। अपने भाषण में उन्होंने बिना नाम लिए मेरे उन आक्षेपों की ओर भी संकेत किया जो कुछ ही समय पूर्व मैंने एक लेख में व्यक्त किए थे। उत्तर देने का मेरा कोई विचार नहीं था, क्योंकि दिनकरजी के वक्तव्य में अपने मत का पोषण मात्र ही था, मेरे प्रति किसी प्रकार का असद्भाव नहीं था। फिर भी जब मुझसे आग्रह किया गया तो उस संदर्भ में अपने मंतव्य को पुष्ट करने के अतिरिक्त मेरे लिए और कोई चारा नहीं रह गया।

मैं इधर एकान्त भाव से अपने मन के प्रतिपादन में व्यस्त था, उधर (बाद में, जिन्होंने बताया) दिनकरजी को यह सब अप्रिय लग रहा था, मानो मैं घर बुलाकर उनका अपमान कर रहा हूँ। सगोष्ठी की सभानेत्री के शील और सौजन्य से यह प्रसग तो समाप्त हो गया, पर बाद मे जाकर मैं दिनकरजी से लड़ा। दिनकरजी के काव्य के प्रति मेरे मन मे प्रबल आसक्ति है और मेरा निश्चित मत है कि हमारी पीढ़ी के कवियों मे वे ही सर्वाधिक समर्थ एव प्रतिभा सम्पन्न हैं। दिनकरजी मेरे विचारों से अवगत हैं और मेरे उनके स्नेह सम्बन्ध मे वृद्धि ही होती जा रही है।

"इस प्रकार स्पष्ट कथन से मेरे ऊपर अभी तक तो कोई मुसीबत नही आई। ईमानदारी वास्तव मे चरित्र का सबसे बड़ा गुण है वह साधक न होकर बाधक कैसे हो सकता है?"

सर्जक और आलोचक के बीच की खाई की चर्चा करते हुए मैंने पूछा, "आज के युग मे लेखक और आलोचक के बीच की खाई निरन्तर बढ़ती जा रही है। आपके विचार मे, यह खाई कैसे पट सकती है?" वे बोले, 'कलाकार और आलोचक के बीच की खाई नई नही है। आदिकाल से ही सम्राट ज्ञानी और मुत्सद्दी कलाकार का यह वैमनस्य अनेक रूपों मे व्यक्त होता है। आज वास्तव में यह अन्तर कम हो जाना चाहिए था क्योंकि बौद्धिकता के वर्द्धमान प्रभाववश आज की सर्जना मे भी आलोचना निहित रहती है। मैथिलीशरण गुप्त की अपेक्षा दिनकर और प्रेमचन्द की अपेक्षा अज्ञेय का विवेचनपक्ष निश्चय ही अधिक प्रबुद्ध है। फिर भी यदि यह अन्तराल बढ़ता जा रहा है तो इसका दोष मैं दोनों को ही दूंगा। आलोचक का दोष यह है कि वह अपनी सीमा से आगे बढ़कर कलाकार के सरक्षण या नियत्रण करने का दम्भ भरता है और उधर हमारा कलाकार ऐसा अति सवेदनशील बन गया है कि प्रशसा के अतिरिक्त और कुछ सुनना ही नही चाहता। आलोचक को अपने कर्त्तव्य-कर्म की मर्यादाएँ नहीं भूलनी चाहिए आलोचना सर्जना की अनुवर्तिनी ही है। जहाँ उसने अग्रवर्तिनी होने का दम्भ किया, साहित्य का ह्रास अवश्यभावी हो जाएगा। इसी प्रकार, जहाँ कलाकार स्वरति-ग्रस्त हुआ, वहीं उसकी प्रतिभा विकृत और रुग्ण हो जाएगी। न कवि को आलोचक से अपने गुण-कीर्तन की आकांक्षा करनी चाहिए और न आलोचक को कवि से अनुसरण की दुराशा। स्रष्टा उपास्य से पुष्ट होती है और उपास्य स्रष्टा से समृद्ध। इस मयोपाश्रय सबध को भूलने के कारण ही आज लेखकों और आलोचकों के बीच सद्भावना की कमी होती जा रही है।"

जीवन भर एक ही ढर्रे पर सोचते रहने के कारण आलोचक कई बार किसी ऐसी कृति या विचारधारा से मेल नही बैठा पाता जिससे उसका तात्त्विक मतभेद हो—जैसा कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के विषय में यह माना जाता है कि छाया-

वादी काव्य के साथ वे सायुज्य नहीं स्थापित कर पाए थे। जब कोई आलोचक ऐसी स्थिति में पड़ जाए तो उसे क्या करना चाहिए, यह जानने के लिए मैंने प्रश्न किया, "निरन्तर एक ही प्रकार से चिन्तन करते रहने के फलस्वरूप आलोचक की मान्यताएँ बहुत कुछ स्थिर और बद्धमूल हो जाती हैं। आपके विचार से क्या उसे किसी ऐसी कृति का मूल्यांकन करने से सामान्यतः बचना नहीं चाहिए जिसमें अभिव्यक्त जीवन-दर्शन से उसका तात्त्विक मतभेद हो? ऐसी स्थिति में आप क्या करेंगे?"

जमकर बैठते हुए डा० नगेन्द्र बोले, "आपका यह प्रश्न और भी गम्भीर है। इसमें मुझ जैसे अप्रगतिशील आलोचक के लिए एक ललकार भी है। इसमें संदेह नहीं कि प्रत्येक विचारवान् व्यक्ति की अपनी एक चिन्तन-पद्धति होती है। जीवन के निरन्तर अनुभव और चिन्तन से कुछ मान्यताएँ स्थिर और बद्धमूल हो जाती हैं जिनके आधार पर उसके जीवन-दर्शन का निर्माण और विकास होता है। नवीन अनुभवों और विचारों का सम्पर्क और संघर्ष इस विचार-धारा में अनिवार्यतः नई कम्पन और नई तरंगें उत्पन्न करता है जिनसे इसका संशोधन, परिमार्जन और पोषण होता रहता है। स्थिर और बद्धमूल का अर्थ जड़ नहीं है, जिस प्रकार ग्रहणशील और विकसनशील का अर्थ अस्थिर और चंचल नहीं है। साहित्य का कोई भी प्रबुद्ध आलोचक नवीन प्रभावों और अनुभवों से पराङ्मुख नहीं हो सकता; प्रौढ़ता के साथ स्थिरता आती है, जड़ता नहीं। अतः यह निष्कर्ष निकालना ठीक नहीं है कि मात्र जीवन-दर्शन के भेद के आधार पर कोई भी स्थिरमति आलोचक किसी समर्थ कलाकृति के साथ अन्याय कर बैठेगा। वास्तव में इसी प्रकार की शंकाओं का ही उत्तर तो रससिद्धान्त है जो स्थायी भावों के वैचित्र्य और वैपरीत्य के माध्यम से जीवन के सम्पूर्ण वैचित्र्य को आत्मसात कर लेता है। जिस प्रकार से रसवादी आलोचक रति और शोक दोनों के ही माध्यम से रसास्वादन कर सकता है उसी प्रकार वह विरोधी जीवन-दर्शनों के माध्यम से भी साहित्य का आनन्द ले सकता है। कठिनाई तो ऐसे आलोचक को होती है जिसकी मान्यताएँ किसी न किसी प्रकार की राजनीति से अभिग्रस्त होती हैं। रसवादी आलोचक 'आल्हखण्ड', 'विनयपत्रिका', 'बिहारी सतसई', 'प्रियप्रवास', 'कामायनी', 'उन्मुक्त', 'कनुप्रिया', 'चन्द्रकान्तासंतति', 'गोदान' और 'शेखर : एक जीवनी'—एकान्तविरोधी जीवन-दर्शन पर आधृत कलाकृतियों का सहजभाव से आनंद ले सकता है। कलाकार के राजनैतिक, नैतिक या साहित्यिक विचार उसके लिए गौण हैं, मुख्य है कृति के द्वारा उसकी आत्मोपलब्धि। अगर कलाकार इसमें सफल हुआ है तो कृति भी सफल है, क्योंकि आत्मोपलब्धि ही रस है और रस ही साहित्यिक सफलता का आधार है।"

चर्चा में इतना आनन्द आ रहा था कि समय का ध्यान ही न रहा था। सबेरे

वे नौ बजे बैठे थे और अब साढ़े तीन बजने को थे। बीच में केवल भोजन करने के लिए ही हम लोग उठे थे। इसलिए, चर्चा को समेटते हुए मैंने अन्तिम प्रश्न किया, "हिन्दी-आलोचना की वर्तमान स्थिति को देखते हुए उदीयमान आलोचकों के लिए आप क्या सन्देश देना चाहेंगे?" निश्चयात्मक स्वर में डा० नगेन्द्र बोले, "हिन्दी आलोचना की वर्तमान स्थिति सर्वथा सन्तोषजनक है। अपने समृद्ध रिक्थ के कारण हिन्दी का आलोचक भारत की अन्य भाषाओं के आलोचकों की अपेक्षा अधिक प्रबुद्ध है। सन्देश और उपदेश देने में तो मुझे प्रायः विश्वास नहीं है। मुझे याद आता है कि जब मैं बी० ए० का विद्यार्थी था तब अपनी किशोर कल्पना के अनुरूप मैंने लम्बे बाल रखना, बन्द मोहरी का कुर्ता, धोती और एक खास किस्म की चप्पल पहनना शुरू कर दिया था। 'आगरा पंच' के किसी होली विशेषांक में इस पर एक रंगीन टिप्पणी छपी थी 'कवि बनने का नुसखा : लम्बे और रूखे बाल, सफेद कुर्ता, धोती और पेशावरी चप्पल।' यदि आप कवियों के लिए कोई सन्देश माँगते तो मैं अपने इस आज़मूदा नुसखे को उद्धृत कर देता, किन्तु आलोचक के लिए मेरे पास ऐसा कोई नुस्खा नहीं है।

"आपके प्रश्न के उत्तर में मैं आलोचक की उस परिभाषा को ही एक बार दोहरा सकता हूँ, जो मैंने अपने आलोचक-जीवन के आरम्भ में, कदाचित् स्वानुभूति के आधार पर, प्रस्तुत की थी : आलोचक एक विशेष रसग्राही पाठक है और आलोचना उस गृहीत रस को सर्वसुलभ करने का प्रयत्न है। इस प्रयत्न में आलोच्य कृति के सहारे आलोचक जितनी सचाई और सफाई के साथ अपने को व्यक्त करता है उतना ही उसकी आलोचना का मूल्य होता है।"

१० ६-१९६२]

डा० प्रभाकर माचवे

'परन्तु' से 'जो' तक

वैसे तो प्रत्येक साहित्यकार विलक्षण होता है, पर प्रभाकर माचवे अनेक विलक्षणताओं के स्वामी हैं। उनका व्यक्तित्व कितने ही विरोधाभासों का संगम है। देखने में वे पहलवान लगते हैं, पर वास्तव में हैं बुद्धिजीवी। मातृभाषा मराठी है, पर साहित्य-सृजन हिन्दी में करते हैं। अपने को मूलतः चित्रकार मानते हैं, पर कविता, कहानी, उपन्यास, व्यंग्य लेख और रेखाचित्र से लेकर साहित्यालोचन, इतिहासलेखन, बाल-साहित्य, कोश-निर्माण, भ्रष्टाचार-निरोध आदि तक सभी में धड़ल्ले से लेखनी चलाते हैं। मनसा सरल, स्वच्छ और सौम्य हैं, पर मुँहफट इतने हैं कि उनकी जबान पर अप्रिय सत्य उतरते देर नहीं लगती—प्रिय सत्य को तो वे चुपचाप पचा जाते हैं। अपने और पराए का भेद किए बिना उनके व्यंग्य-बाण भीतर तक बेधते चले जाते हैं। हिन्दी में लिखते तीस-पैंतीस वर्ष हो गए, तीस के करीब पुस्तकें लिख चुके हैं और पत्र-पत्रिकाओं में सर्वाधिक छपते हैं, पर इधर हिन्दी-जगत् में लोग उन्हें साहित्यकार तक मानने को तैयार नहीं—शायद उनकी इन्हीं विचित्रताओं के कारण, जिनमें से अधिकांश का सम्बन्ध उनके साहित्य की अपेक्षा व्यक्तित्व से अधिक है।

माचवेजी ने अपने चारों ओर इन विचित्रताओं की एक लक्ष्मण-रेखा खींच रखी है जिसे लाँघना कठिन है, पर उसे लाँघने पर ही उनके वास्तविक, निश्छल रूप की झाँकी मिल सकती है। जो इस रेखा को लाँघ नहीं पाते, उनके लिए माचवेजी पराए बने रहते हैं। मुझे इस रेखा को पार करने के अनेक अवसर मिले हैं और मैंने माचवेजी एवं उनके साहित्य को निकट से देखा है। पर उनके अपने साहित्य पर उनसे कभी जमकर चर्चा नहीं हो पाई थी। एक दिन यह साध भी पूरी हो गई। उनके साहित्य की मूल प्रेरणा जानने के लिए मैंने पूछा, "साहित्यसृजन की प्रेरणा आपको जीवन और जगत् से सीधे मिलती है या उनके प्रति बन चुके अपने किसी दृष्टिकोण से?"

प्रश्न को गम्भीरता से लेते हुए माचवेजी बोले, "'जीवन और जगत् से सीधे प्रेरणा' और 'जीवन और जगत के प्रति बन चुके अपने किसी दृष्टिकोण से प्रेरणा' में मैं कोई विरोध नहीं देखता। एक उत्कट अनुभूति के उत्स की तात्कालिक प्रति-

किया है तो दूसरी उसकी सुचिन्तित, बौद्धिक, पूर्वाग्रहमुक्त समीक्षा द्वारा काट छाँट-कर की हुई जाँच का परिणाम। 'भावदशा' और 'रस-दशा' के नाम से पुराने समीक्षकों ने इसे सम्बोधित किया है। मैं नहीं मानता कि मेरे व्यक्तित्व के ऐसे कोई खाने हैं कि पहले मैं अनुभव करता हूँ, फिर उस पर जुगाली करने बैठता हूँ, फिर उसे पचने देता हूँ। फिर उसमें से चुन-चुन कर कुछ को (जो स्मृति में अटकी रह जाएँ वे ही बातें) अधिक चटपटी बनाकर, कल्पना का नमक मिर्च लगाकर परोसता हूँ। मैं काफी संवेदनशील और विचारवान प्राणी हूँ—यानी एक साथ ही जल्दबाज और दर्शनप्रिय, भोक्ता और तटस्थ। गति और स्थिति के द्वन्द्व में निरन्तर रहता हुआ मुझ-मन का सर्जक अपने समूचे, 'होने' ('अस्तित्व-बीइंग') से 'होते जाने' ('मूल्यमानता—'बिकमिंग') में विश्वास करता है। इसलिए जीवन और जगत् से कोई भी प्रेरणा मैं नहीं नकारता—समग्र सत्य, वर्जनीय कुछ नहीं, अनुभव योग्य है। इस अनुभूति के साथ-साथ दृष्टि बनती जाती है। पूर्वाग्रह या मतवादिता का मैं कभी भी हामी नहीं रहा—और इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि 'दृष्टिकोण' मेरी प्रेरणा नहीं, 'जीवन और जगत' का सीधे प्रत्यय लेना ही सच्ची प्रेरणा है।"

प्रभाकर माचवे बहुमुखी प्रतिभा के लेखक हैं। उनकी रचना-प्रक्रिया के विषय में जानकारी प्राप्त करने के उद्देश्य से मैंने पूछा, "आप कविताएँ भी लिखते हैं और उपन्यास भी। इन दोनों विधाओं में आपकी रचना प्रक्रिया मूलतः एक सी रहती है या उसमें कोई मौलिक अन्तर आ जाता है ?"

अपने भीतर टटोलते हुए से वे बोले, "दोनों की रचना प्रक्रिया इस माने में एक सी है कि मूल प्रेरक बिन्दु एक ठेस, एक खास सूझ—चाहे शब्द ही हो, या एक दृश्य हो या व्यक्ति हो, या घटना हो—कुरेदती रहती है। पर जब कविता बनती है तो एक रास्ता वह अनुभूति पकड़ लेती है, उपन्यास में दूसरा। पद्य और गद्य की विधाओं का, संस्कारों का अन्तर भी है। कई आलोचकों का कहना है कि मेरी कविताएँ गद्यात्मक होती हैं और मेरा गद्य पद्यात्मक। हो सकता है कि यह बात सही हो। मेरे लिए 'रूप' की बाह्य साहित्यिक मर्यादाएँ विशेष अर्थ नहीं रखतीं। मेरा मानना है कि कलाकृति अपने साथ एक आकृति-बंध भी जन्म से लेकर आती है—और सम्भव है कि कविता वाली बात ज्यों-की-त्यों गद्य में कही जा सके, और उसके उलटे भी बात सच है। कविता और उपन्यास इन दोनों विधाओं में मेरे लेखे 'मौलिक' अन्तर नहीं है।"

पीढ़ियों का संघर्ष एक चिरन्तन सत्य है। प्रत्येक पीढ़ी अपने पूर्ववर्तियों को पिछड़े हुए और परवर्तियों को अपक्व मानती है। इतिहास की तरह साहित्य भी अनेक बार पीढ़ियों के संघर्ष का शिकार हो जाता है। हिन्दी-साहित्य में 'नई कविता', 'नई कहानी' का नारा इसी संघर्ष का द्योतक है। 'नई कविता' के प्रति डा० माचवे

की प्रतिक्रिया जानने के लिए मैंने प्रश्न किया, "आज के युवक कवि की दृष्टि में उसकी अपनी कविता ही कविता, बल्कि 'नई कविता' है; उससे पहले की समूची हिन्दी-कविता उसके निकट संदर्भहीन भटकन के सिवा कुछ नहीं। 'तार सप्तक' के कवियों का भी लगभग यही दावा था। इन कवियों में आपका नाम भी प्रमुख है। 'नई कविता' के प्रति आपकी प्रतिक्रिया जान सकूं तो उससे ज्ञानलाभ होगा।"

मेरे प्रश्न को तौलते हुए बोले, "आपके प्रश्न में तीन आरोप हैं—एक, आज के कवि की मान्यता अहंकेन्द्रित है, वह पूर्व परम्परा को नकारता है। दो, 'तार-सप्तक' के कवियों का भी लगभग यही दावा था, जिनमें मैं भी एक हूँ। तीन, 'नई कविता' के प्रति अब मेरी क्या प्रतिक्रिया होगी। आपने पोप कवि की दो पंक्तियाँ पढ़ी होंगी—'हम अपने पिताजनों को मूर्ख कहते हैं, और हमारे बच्चे भी हमें यही कहेंगे।' जाहिर है कि हर पीढ़ी के साथ (युग मैं नहीं कहता, चूंकि हिन्दी में युग बहुत जल्दी-जल्दी बदल रहे हैं) कविता की रुचि-मान्यताएँ बदल रही हैं—और हर 'नये' के आग्रह में पुराने को नकारने की बात होती ही है, कम या अधिक मात्रा में। लेकिन परम्परा-खण्डन, परम्परा-अस्वीकृति, रूढ़ि-भंजन और नव-निर्माण के पीछे अलग-अलग कारण हो सकते हैं—उन्हें व्यक्त करने के ढंग और प्रणालियाँ भी अलग-अलग हो सकती हैं। 'तार सप्तक' आपके देखने में आया होगा। वह ग्रन्थ अब दुर्मिल है। उसमें मैंने अपने कवि-वक्तव्य में स्पष्टतः छायावाद और प्रगतिवाद से अपने मतभेद व्यक्त किए हैं। दोनों का मनोविश्लेषण करके मैंने बताया है कि वे मेरे लिए नाकाफी हैं।

"आज के युवक कवि का नकार या अहंकेन्द्रितता भिन्न प्रकार की है। हमारे समय में आस्था का अभाव नहीं था; आज अनास्था का युग है। हम लोगों ने सचेतन रूप से चाहा था कि हिन्दी-कविता को पुरानी लीकों से मुक्त किया जाए—स्वस्थ, शुद्ध, ताजे वातावरण में उसे अधिक सहज और जीवन के यथार्थ के सन्निकट लाया जाए। आज के कवि के समय में यथार्थबोध गए बाईस वर्षों में बहुत बदल गया है। 'नई कविता' पत्रिका का नवीनतम 'सातवाँ' अंक आपने देखा होगा। मेरा एक वक्तव्य उसमें भी है। मैं 'नई कविता' में बहुत अधिक संभावनाएँ देखता हूँ। 'नकेन' के प्रकाशन पर मैंने ही उसके स्वागत में लिखा था (स्व० नलिनजी ने अपनी 'कविता' के तीन अंकों में मेरी दो कविताएँ छापी थीं) विष्णुचन्द्र शर्मा के 'कवि' में मैंने लिखा और 'प्रारम्भ' के प्रकाशन पर मैंने ही (शायद हिन्दी के एकमात्र पुराने आलोचक ने) उसकी प्रशंसा में 'धर्मयुग' में लिखा। मैं विश्व की उन सभी भाषाओं की नवीनतम कविता से अपने को परिचित रखता हूँ, जिन्हें मैं मूल में या अनुवादित पढ़ सकता हूँ। नवीनता का मैं सदा स्वागत करता हूँ—परम्परा इसी तरह बनती जाती है, ऐसा मेरा विश्वास है। परन्तु दुर्भाग्य से हिन्दी के सभी काव्य-समीक्षक आलोचक या कवि मेरी तरह उदार नहीं हैं।"

प्रभाकर माचवे उपन्यासकार भी बेजोड़ हैं। अब तक उनके पाँच उपन्यास प्रकाशित हो चुके हैं—'एक तारा', 'परन्तु', 'द्वाभा', 'साँचा', 'जो'। इसलिए चर्चा को मोड़ देकर मैं उनके उपन्यास 'परन्तु' पर ले आया। 'परन्तु' चार संवेदनाओं की आदिम प्रवृत्तियों और सामाजिक समस्याओं के संघर्ष को चित्रित करता है। यह संघर्ष उन्हें कहीं का नहीं छोड़ता, उन्हें आत्मकेन्द्रित करके उनके जीवन में निष्क्रियता और गतिरोध ला देता है। टेक्नीक की दृष्टि से यह रचना अपने समय से बहुत आगे है। इस उपन्यास की कमजोरी बस यह है कि पात्रों के जीवन की विडम्बना के चित्रण की धुन में पात्र व्यंग्यचित्र बन गए हैं। इसकी ओर संकेत करते हुए मैंने पूछा, "'परन्तु' में आपने स्वीकारा है कि 'चित्रण के आवेश में कहीं कहीं पात्र व्यंग्य चित्र बन गए हैं'। 'परन्तु' ही क्यों, यह बात न्यूनाधिक रूप से आपके अन्य उपन्यासों पर भी लागू होती है। 'खरगोश के सींग' वाला आपका व्यंग्यकार बार बार आपके उपन्यासकार पर हावी हो जाता है और पात्रों के चरित्र चित्रण का सन्तुलन बिगाड़ता हुआ उन्हें एकांगी बनाता जाता है। यह तो माना कि उपन्यास में व्यंग्य निषिद्ध नहीं, पर क्या उसमें वह उतना नहीं होना चाहिए जितना कि आटे में नमक ?"

मेरे आरोप को झुठलाते हुए माचवे "आपने 'आटे में नमक' कहकर उपन्यास में व्यंग्य की मात्रा निश्चित कर दी है। मैं नहीं समझता कि ऐसी कोई मात्रा निश्चित की जा सकती है। वाल्तेयर, बर्नार्ड शॉ, स्टीले, सर्वान्तीस, ऑर्वेल—अनेक ऐसे विश्व-साहित्य में कथाकार नाटककार हुए हैं, जो व्यंग्यकार भी थे और उन्होंने अपनी सम्पूर्ण कृतियों की आत्मा व्यंग्य को ही बनाया है। अधुनातन यूरोपीय और पश्चिमी साहित्य में यह प्रवृत्ति और भी तीव्र है—बेकेट और सालेंजेली आदि। खैर, मैं व्यंग्य को एक प्रमुख साहित्यिक अस्त्र मानता हूँ। उपन्यास में मैंने उसका प्रयोग किया है। यदि अधिक गौर से और थोड़ी तटस्थता और वृथा-भावुकता हीनता से देखा जाए तो हम सब में एक व्यंग्य चित्र छिपा हुआ है। 'तेल की पकौड़ियाँ' की भूमिका में मैंने अपनी इस शैली के समर्थन में कुछ लिखा है।

"आपकी बात से मैं सहमत हूँ कि 'खरगोश के सींग' का लेखक मेरा मुख्य रूप है—शब्दों के साथ खेलने वाला। और वही मुझसे कविता भी लिखवाता है और कथा भी। 'पात्रों का सन्तुलन बिगड़ना और एकांगी बनाना' चूँकि मैं जान-बूझकर करता हूँ—तो यह आरोप मुझे मान्य है। उस इल्जाम की सजा भी भुगत रहा हूँ, मुझे न तो कोई कवि मानता है और न उपन्यासकार। और चूँकि सबकी मुँहदेखी आलोचना करता हूँ इसलिए आलोचक विद्वानों की पंक्ति से भी आउट-साइडर हूँ। मैं समझता हूँ कि यह स्थिति बुरी नहीं है। एक पुस्तक लिखकर 'इस्टैब्लिश्ड' हो जाना कि बाद में पुरानी कीर्ति पर जीने के बजाय निरन्तर नई

'असफल' कृतियाँ लिखना, प्रयोग करना और सफलता की सदा आशा या कामना करते रहना कहीं अच्छा होता है, मेरा यही ख्याल है। मेरे व्यंग ने अपने-आपको भी नहीं बख्शा है।"

माचवेजी का उपन्यास 'साँचा' मानवता पर यन्त्रयुग के अभिशाप की कहानी है। मनुष्य ने यन्त्र बनाए, साँचों का निर्माण किया—अपनी सुविधा के लिए, पर हुआ यह कि यन्त्र और साँचा ही सब कुछ बन बैठा और मनुष्य की देह और आत्मा को पेरने लगा। यन्त्रयुग के विशाल साँचों में घुटती-पिसती-कराहती मानवता, विकारग्रस्त सुन्दरता और पीड़ित बौद्धिकता का करुण स्वर इस समूची कृति में व्याप्त है जो मन और प्राण में बस जाता है। पर टेकनीक के नए प्रयोगों के कारण, पाठक के मस्तिष्क पर बहुत जोर पड़ता है। उपन्यास की दुरूहता को ध्यान में रखते हुए मैंने पूछा, "आपके उपन्यास 'साँचा' में यन्त्रयुग की हृदय-हीनता का जो चित्रण हुआ है वह यथार्थ और तीखा है। नपेतुले जीवन-साँचे के विरुद्ध यह रचना विद्रोह का जो भाव जगाती है, वह भी स्तुत्य है। पर इस कृति ने स्वयं भी उपन्यास के साँचे में ढलने से जो इन्कार कर दिया है, उससे मुझे लगता है कि पाठकों के साथ ज्यादती हुई है। 'द्वाभा' में तो वह ज्यादती चरम सीमा को छू गई है। क्या आपको भी कभी ऐसा लगा है ?" यह पूछते समय मेरे मन में 'साँचा' के प्रथम संस्करण में उपन्यास के अन्त में जोड़ी गई 'पीठिका' में लेखक की स्वीकारोक्ति के ये शब्द गूँज रहे थे: 'कृपया यह ध्यान में रखें कि उपन्यास में सुनिश्चित कथानक, सुव्यवस्थित पात्र निर्माण, प्लाट, तखमीना आदि पाठकों को नहीं मिलेगी—यह इसलिए नहीं हुआ है कि आधुनिकता के नाम पर जान-बूझकर असम-विषम चीज उपस्थित की जाए। पर लेखक को लगता है कि जो विषय उसने उठाया है, उसकी अभिव्यंजना और किसी तरह हो ही नहीं सकती थी।'

मेरे प्रश्न को चुटकी में उड़ाते हुए माचवेजी बोले, "आपका उपन्यास के 'साँचा' से क्या अभिप्राय है, मैं नहीं समझा। निवेदन कर चुका हूँ कि प्रत्येक कला-कृति अपने साथ एक रूपाकार भी लेकर आती है। पाठक को ध्यान में रखकर उसे खुश करने के विचार से मैं कभी नहीं लिखता। यदि पाठक यह समझता है कि उसे—मीठा-मीठा गप्प-शप्प और कड़ुआ-कड़ुआ थू-थू'—प्रेमचन्द, शरच्चन्द्र जैसी सीधी-सपाट कहानी पिलाई जाए और यदि हिन्दी के उपन्यास लेखक इसी पाठकीय माँग से चलते तो आज तक उपन्यास की शिल्पशैली आगे बढ़ ही नहीं पाती। पाठक की माँग है या नहीं, मैं नहीं जानता, पर 'द्वाभा' और 'साँचा' के दो-दो संस्करण हो गए हैं। और मेरे जैसे सामान्य लेखक के लिए यह काफी सन्तोष की बात जान पड़ती है। जबकि बड़े-बड़े उपन्यासकारों की प्रसिद्ध, बहुचर्चित कृतियों के एक संस्करण से अधिक नहीं बिक पाए हैं; मैं नाम नहीं गिनाऊँगा। असल में

हिन्दी-पाठक के बारे में आप जैसे आलोचकों का दिमागी-'साँचा' (स्टीरियोटाइप) काफी 'ड्रामा-पूर्ण' है। हिन्दी पाठक भी बड़ी तेजी से प्रबुद्ध होता जा रहा है।"

अपने उपन्यासों में जितने अधिक 'टेक्नीकों' का माचवेजी ने प्रयोग किया है उतना शायद ही हिन्दी के किसी अन्य उपन्यासकार ने किया हो। अपने-आप में ये प्रयोग चाहे कितने ही मौलिक रहे हों, उपन्यास की अन्विति को इनसे आहुत्य से ठेस ही पहुँची है। उनके उपन्यास 'द्वाभा' के प्रकाशकीय वक्तव्य के इन शब्दों से ही यह बात स्पष्ट हो जाएगी कि उनके ये प्रयोग कितने जटिल रहे हैं 'इसे पढ़ते समय एक नवीन शैली का आनन्द आपको मिलेगा। कहीं गद्य-काव्य का आभास मिलेगा, कहीं निबंध का, कहीं रेखा चित्र का। आभा और श्री की चरित्र-रेखाएँ यद्यपि स्पष्ट हैं, और उसमें अन्य कई पात्रों की पूरक, विरोधी, समानान्तर, अनुकूल रेखाएँ चित्र को अस्पष्ट नहीं बनातीं, पर चरित्र-चित्रण का एक नया ढंग प्रस्तुत करती हैं, जिसमें केवल संवाद या वर्णन ही नहीं, पर डायरी के अंश, पत्र, स्मृतियों की शृंखलाएँ और कई अनावश्यक जान पड़ने वाली चीज़ें भी सार्थक हो उठी हैं।' माचवेजी के इस टेक्नीक-मोह का कारण जानने की इच्छा से मैंने कहा "नये-नये टेक्नीकों के प्रयोग के लिए आपके उपन्यास बेजोड़ हैं। पर टेक्नीक की बारीकियों में खोकर कई बार कथानक इतना बिखर जाता है कि उसके सूत्रों को ढूँढता ढूँढता पाठक उपन्यास के गोरख धंधे में फँसकर छटपटाने लगता है। उसकी इस छटपटाहट में आपको क्या रस मिलता है?"

अपने पाठक की छटपटाहट में रस लेते हुए वे बोले, "मैं उपन्यास में कथानक को प्रधान नहीं मानता। बल्कि कथानक प्रधानता में ही रस लेने वाले पाठकों को मैं पर्याप्त आधुनिकता-बोध वाला पाठक ही नहीं मानता। हाँ, टेक्नीक के प्रयोग मैंने किए हैं और मुझे उनके कारण कोई 'सफाई' देने की ज़रूरत नहीं जान पड़ती। प्रयोग असफल हो सकते हैं, पर इस कारण से प्रयोग करने का साहस ही न किया जाए—यह मैं नहीं मानता। पाठक यदि मेरी कृति को पढ़ने में कुछ 'छटपटाए' भी तो मुझे उसका बुरा नहीं लगेगा। आखिर छटपटाहट सिर्फ इक-तर्फी—लेखक की ओर से ही—क्यों हो?"

डा० माचवे का नवीनतम उपन्यास 'जो' मुझे उनके सभी उपन्यासों से अच्छा लगा। यह एक अमेरिकी नीग्रो के संघर्षभरे जीवन की करुण कहानी है। 'जाज़ संगीत के वादक के नाते ख्याति के शिखर पर पहुँच जाने पर भी जो को नीग्रो होने के कारण ही असह्य मानसिक और सामाजिक यातनाएँ सहनी पड़ती हैं। इस उपन्यास की विशेषता यह है कि अमेरिका की नीग्रो-समस्या को भारत की अछूत समस्या के संदर्भ में बड़े मार्मिक ढंग से चित्रित किया गया है। कला की दृष्टि से भी यह कृति सुन्दर बनी है। इसलिए इसका स्वागत करते हुए मैंने कहा, "आपके नवीनतम उपन्यास 'जो' में अमेरिका की नीग्रो-समस्या को भारत की

अछूत-समस्या के संदर्भ में जिस मार्मिकता से प्रस्तुत किया गया है वह स्तुत्य है। यह उपन्यास आपकी अन्य कृतियों से भिन्न और अपेक्षया प्रौढ़ है। क्या इसे आपकी अमेरिका यात्रा की साहित्यिक उपलब्धि माना जाए?"

माचवेजी के व्यंग्यकार ने झट चुटकी ली, "आपके सुन्दर आशंसात्मक प्रमाण-पत्र के लिए आभारी हूँ। मेरी अमेरिका-यात्रा की अनेक 'उपलब्धियों' में चार हिन्दी पुस्तकें भी हैं—(१) 'गोरी नज़रों में हम', (२) 'जो' (उपन्यास)—ये दोनों छप गई हैं। एक लम्बी डायरी है जो अप्रकाशित है और एक विदेश-यात्रा में लिखी कविताओं का एक संग्रह है, जो शीघ्र प्रकाश्य है।

"वैसे आपने 'उपलब्धि' शब्द का प्रयोग किया है। मैं अपनी ४८ वर्ष की आयु और प्रकाशित तीस पुस्तकों में एक को भी अपनी उपलब्धि उस अर्थ में नहीं मानता कि अब पूर्णाविराम हो गया, और आगे कुछ नहीं करना है। मूलतः मैं एक चित्रकार हूँ जो हल्के रंगों में दृश्यांकन भी करता है (कविताएँ साक्षी हैं, शब्दों में), गहरे शोख रंगों के पोस्टर भी बनाता हूँ (मेरी आलोचनाएँ साक्षी हैं), व्यंग्य-चित्र भी बनाता हूँ (मेरे अनेक निबन्ध साक्षी हैं), शबीहें या पोट्रेट्स भी बनाता हूँ (मेरे अनेक संस्मरण और रेखाचित्र छपे हैं); और अब मैं धीरे-धीरे शुद्ध, एब्स्ट्रेक्ट चित्रकला की ओर मुड़ रहा हूँ ('जो' में कुछ स्थल या 'साँचा' के अन्त में ज्वाइस-जैसे प्रयोग साक्षी है)—हो सकता है कि मेरी अगली कृतियाँ और भी दुर्बोध और 'एब्सर्ड' हों।

"मेरा मत यह है कि सारा युग ही विसंगति का युग है। अतः 'अ-कविता' 'अ-कथा' की ओर हम बढ़ते जा रहे हैं। मैंने 'अब्राकाडब्रा', 'गली के मोड़ पर' एकांकी संग्रह, 'पागलखाने' में, तीन रेडियो एकांकियों में, 'उलट-फेर' एकांकी में, 'तेल की पकौड़ियाँ' में—और 'बेरंग' के कई निबन्धों में इस प्रकार के मानसिक विक्षेप और चेतन-अवचेतन के गड्ड-मड्ड पर कृतियाँ लिखी हैं—वे अ-नाटक के क्षेत्र में आती हैं।

"इन सब 'अ'-कारात्मक प्रयोगों के कारण मैं समझ सकता हूँ कि परम्परित आलोचना के मानने वालों को कष्ट हो सकता है, मुझे समझने में। पर मुझे विश्वास है कि अगली, नहीं तो उससे अगली, आने वाली पीढ़ी इस 'खाद' को समझेगी जो उन आगामी फूलों के लिए आवश्यक है, बशर्ते कि हमें काम करने दिया गया, उपेक्षा की सिकता और अवहेलना की मिट्टी में पूरी तरह मिटा नहीं दिया गया, तो। सम्प्रति तो हम निराला के शब्दों में 'ब्राह्मण समाज में ज्यों अछूत' हैं ही। पर उसका गिला नहीं—आगे का युग हमारी ही तरह सोचने, संवेदना करने, लिखने और मूल्यांकन करने वालों का होगा, यह आत्म-विश्वास है।"

४-११-१९६५]

हिन्दी-पाठक के बारे में आप जैसे आलोचकों का दिमागी-'साँचा' (स्टीरियोटाइप) काफी 'भ्रामा पूर्ण' है। हिन्दी पाठक भी बड़ी तेजी से प्रबुद्ध होता जा रहा है।"

अपने उपन्यासों में जितने अधिक 'टैकनीकों' का माचवेजी ने प्रयोग किया है उतना शायद ही हिन्दी के किसी अन्य उपन्यासकार ने किया हो। अपने आप में ये प्रयोग चाहे कितने ही मौलिक रहे हों, उपन्यास की अन्विति को इनसे बाहुल्य से ठेस ही पहुँची है। उनके उपन्यास 'द्वाभा' के प्रकाशकीय वक्तव्य के इन शब्दों से ही यह बात स्पष्ट हो जाएगी कि उनके ये प्रयोग कितने जटिल रहे हैं 'इसे पढ़ते समय एक नवीन शैली का आनन्द आपको मिलेगा। कहीं गद्य-काव्य का आभास मिलेगा, कहीं निबन्ध का, कहीं रेखा चित्र का। आभा और धी की चरित्र-रेखाएँ काफी स्पष्ट हैं, और उसमें अन्य कई पात्रों की पूरक, विरोधी, समानान्तर, अनुकूल रेखाएँ चित्र को अस्पष्ट नहीं बनातीं, पर चरित्र चित्रण का एक नया ढंग प्रस्तुत करती हैं, जिसमें केवल संवाद या वर्णन ही नहीं, पर डायरी के अंश, पत्र, स्मृतियों की भृंखलाएँ और कई अनावश्यक जान पड़ने वाली चीजें भी साधक हो उठी हैं।' माचवेजी के इस टैकनीक-मोह का कारण जानने की इच्छा से मैंने कहा, "नये-नये टैकनीकों के प्रयोग के लिए आपके उपन्यास बेजोड़ हैं। पर टैकनीक की बारीकियों में खोकर कई बार कथानक इतना बिखर जाता है कि उसके सूत्रों को ढूंढता ढूंढता पाठक उपन्यास के गोरख-धन्धे में फँसकर छटपटाने लगता है। उसकी इस छटपटाहट में आपको क्या रस मिलता है?"

अपने पाठक की छटपटाहट में रस लेते हुए वे बोले, "मैं उपन्यास में कथानक को प्रधान नहीं मानता। बल्कि-कथानक प्रधानता में ही रस लेने वाले पाठकों को मैं पर्याप्त 'आधुनिकता-बोध' वाला पाठक ही नहीं मानता। हाँ, टैकनीक के प्रयोग मैंने किए हैं और मुझे उनके कारण कोई 'अपौलोजी' देने की जरूरत नहीं जान पड़ती। प्रयोग असफल हो सकते हैं, पर इस कारण से प्रयोग करने का साहस ही न किया जाए—यह मैं नहीं मानता। पाठक यदि मेरी कृति को पढ़ने में कुछ 'छटपटाए' भी तो मुझे उसका बुरा नहीं लगेगा। आखिर छटपटाहट सिर्फ इकतर्फा—लेखक की ओर से ही—क्यों हो?"

डा० माचवे का नवीनतम उपन्यास 'जो' मुझे उनके सभी उपन्यासों से अच्छा लगा। यह एक अमेरिकी नीग्रो के संघर्षभरे जीवन की करुण कहानी है। 'जाज' संगीत के विशेषज्ञ के नाते ख्याति के शिखर पर पहुँच जाने पर भी जो को नीग्रो होने के कारण ही असंख्य मानसिक और सामाजिक यातनाएँ सहनी पड़ती हैं। इस उपन्यास की विशेषता यह है कि अमेरिका की नीग्रो समस्या को भारत की अछूत समस्या के संदर्भ में बड़े मार्मिक ढंग से चित्रित किया गया है। कला की दृष्टि से भी यह कृति सुन्दर बनी है। इसलिए इसका स्वागत करते हुए मैंने कहा, "आपके नवीनतम उपन्यास 'जो' में अमेरिका की नीग्रो-समस्या को भारत की

अछूत-समस्या के संदर्भ में जिस मार्मिकता से प्रस्तुत किया गया है वह स्तुत्य है। यह उपन्यास आपकी अन्य कृतियों से भिन्न और अपेक्षया प्रौढ़ है। क्या इसे आपकी अमेरिका यात्रा की साहित्यिक उपलब्धि माना जाए?"

माचवेजी के व्यंग्यकार ने झट चुटकी ली, "आपके सुन्दर आशंसात्मक प्रमाण-पत्र के लिए आभारी हूँ। मेरी अमेरिका-यात्रा की अनेक 'उपलब्धियों' में चार हिन्दी पुस्तकें भी हैं—(१) 'गोरी नजरों में हम', (२) 'जो' (उपन्यास)—ये दोनों छप गई हैं। एक लम्बी डायरी है जो अप्रकाशित है और एक विदेश-यात्रा में लिखी कविताओं का एक संग्रह है, जो शीघ्र प्रकाश्य है।

"वैसे आपने 'उपलब्धि' शब्द का प्रयोग किया है। मैं अपनी ४८ वर्ष की आयु और प्रकाशित तीस पुस्तकों में एक को भी अपनी उपलब्धि उस अर्थ में नहीं मानता कि अब पूर्णविराम हो गया, और आगे कुछ नहीं करना है। मूलतः मैं एक चित्रकार हूँ जो हल्के रंगों में दृश्यांकन भी करता है (कविताएँ साक्षी है, शब्दों मे), गहरे शोख रंगों के पोस्टर भी बनाता हूँ (मेरी आलोचनाएँ साक्षी है), व्यंग्य-चित्र भी बनाता हूँ (मेरे अनेक निबन्ध साक्षी है), शबीहें या पोर्ट्रेट्स भी बनाता हूँ (मेरे अनेक संस्मरण और रेखाचित्र छपे हैं); और अब मैं धीरे-धीरे शुद्ध, एब्स्ट्रेक्ट चित्रकला की ओर मुड़ रहा हूँ ('जो' मे कुछ स्थल या 'सांचा' के अन्त में ज्वाइस-जैसे प्रयोग साक्षी है)—हो सकता है कि मेरी अगली कृतियाँ और भी दुर्बोध और 'एब्सर्ड' हों।

"मेरा मत यह है कि सारा युग ही विसंगति का युग है। अतः 'अ-कविता' 'अ-कथा' की ओर हम बढ़ते जा रहे है। मैंने 'अग्राकाडब्रा', 'गली के मोड़ पर' एकांकी संग्रह, 'पागलखाने' में, तीन रेडियो एकांकियों में, 'उलट-फेर' एकाकी में, 'तेल की पकोड़ियाँ' मे—और 'बेरंग' के कई निबन्धों मे इस प्रकार के मानसिक विक्षेप और चेतन-अवचेतन के गड्ड-मड्ड पर कृतियां लिखी है—वे अ-नाटक के क्षेत्र में आती है।

"इन सब 'अ'-कारात्मक प्रयोगों के कारण मैं समझ सकता हूँ कि परम्परित आलोचना के मानने वालों को कष्ट हो सकता है, मुझे समझने में। पर मुझे विश्वास है कि अगली, नहीं तो उससे अगली, आने वाली पीढ़ी इस 'खाद' को समझेगी जो उन आगामी फूलों के लिए आवश्यक है, बशर्ते कि हमें काम करने दिया गया, उपेक्षा की सिकता और अवहेलना की मिट्टी में पूरी तरह मिटा नहीं दिया गया, तो। सम्मति तो हम निराला के शब्दों में 'ब्राह्मण समाज में ज्यों अछूत' हैं ही। पर उसका गिला नहीं—आगे का युग हमारी ही तरह सोचने, संवेदना करने, लिखने और मूल्यांकन करने वालों का होगा, यह आत्म-विश्वास है।"

४-११-१९६५]